ओ३म्

वैदिक गीता



यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्येस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

—गीता २।७

❀ ओ३म ❀

प्राक्कथन

संसार के साहित्य में बाईबिल का कदाचित् सर्वाधिक प्रचार है, किन्तु उसका कारण उसकी अपनी अपूर्व विशेषता नहीं है। भिन्न-भिन्न ईसाई देशों की राज्य-शक्तियों एवं बाईबल सोसाइटियों का सतत अध्यवसाय तथा अदम्य उद्योग बाईबल को यह आसन दे सका है। इतना अधिक प्रचार होने पर भी बाईबल ईसा के अनुयायिवर्ग से बाहर कहीं भी अपना आदरपूर्ण आस्पद नहीं बना सकी, अर्थात् आज तक किसी गैर-ईसाई ने बाईबल पर मोहित होकर उसका प्रकाशन नहीं किया। किन्तु यह भारतवर्ष के लिये अत्यन्त गौरव की बात है कि उसके पास आर्य ऋषियों का दिया हुआ एक ऐसा रत्न है, जिसकी विमल आभा आर्य-अनार्य सब के हृदय को आकर्षित कर लेती है, जिसकी मोहकता का जादू सभ्य-असभ्य सभी पर अनायास चल जाता है। यह रत्न है—श्रीमद्भगवद्गीता। संसार की कोई ऐसी सभ्य भाषा नहीं, जहां गीता के एक से अधिक अनुवाद न हुये हों। अंग्रेजी, जर्मन फ्रेंच लाटिन, ग्रीक, स्लाव, स्पेनिश, पोर्चुगीज आदि योरुप की विविध भाषाओं में इसके विविध अनुवाद टीका-टिप्पण हैं। एशिया-महाद्वीप की भी सारी भाषाओं में इस के गद्य-पद्य दोनों प्रकार के अनुवाद आदि हैं। गीता समस्त संसार का समादरणीय आध्यात्मिक गीत है। सुदूर पाताल देश के प्रख्यात दार्शनिक इमर्सन इस गीता-गंगा में नित्य मज्जन किया करते थे। इंग्लैण्ड के प्रौढ़ लेखक कार्लाइल की इस पर इतनी भक्ति थी कि अपने ज्ञान पिपासु मित्रों को शान्ति के लिये गीता दिया करते थे।

ऐसे ग्रन्थरत्न से आर्यसमाज का, जो इस समय भारत के समाजों का अग्रसर है, प्रभावित न होना, या इस ग्रन्थ को न अपनाना आश्चर्य की बात होती। आर्यसमाज अपने प्रारम्भ काल से ही इस ग्रन्थ की गौरवमय गरिमा को अङ्गीकार करता चला आ रहा है। ऋषि दयानन्द के शिष्य इटावा वासी पं० भीमसेन शर्मा जी ने पहले पहल गीताभाष्य रचा उसके बाद अब तक अनेक आर्य विद्वानों ने गीता के भाष्य, प्रवचन आदि लिखे हैं। परन्तु गीता तो एक ऐसा हीरा है, जिस पर साम्प्रदायिक मल की एक प्रबल तह जम चुकी है। कोई चतुर शिल्पी ही इस तह को, मूलरत्न में से एक अणु को नष्ट किये बिना दूर कर सकता है। अब तक जिस जिस शिल्पी ने इसका मार्जन करना चाहा, इसे सान पर चढ़ाना चाहा वह प्रायः इस रत्न के उद्गम स्थान, अनेक हीरक रत्नों की महान् खान—महाभारत—का अवलोकन किये बिना ही इसे सान पर चढ़ा देता था। जिससे इस रत्न में कुछ न कुछ खनिज मल भी रह ही जाता था। और कुछ रत्न का अंश भी नष्ट हो जाता था। अब साहित्य समाज के सौभाग्य से इस रत्न को एक चतुर शिल्पी मिला है, जो इस की मूल-खान से केवल परिचित ही नहीं है, अपितु वह इसका भली-भांति निरीक्षण भी कर चुका है। उस शिल्पी के पुरुषार्थ से गीता-रत्न बहुत कुछ अपनी वास्तविक आभा को प्राप्त कर सकता है।

वे चतुर शिल्पी प्रायः पाठकों के परिचित ही हैं। आपका परिचय देना मानों सूर्य को दीपक दिखाना हैं। आप दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं। अन्य शास्त्रों में भी आपकी अप्रतिहत गति है। आप कवि भी हैं। आपका शुभ नाम (आचार्य मुक्तिराम जी) स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती है।

आपने ऐसे ही अंट संट ढंग से गीता पर टीका नहीं की। आपने महाभारत की आलोचना करते हुए बड़ी सुन्दर रीति से

महाभारत में आ पड़े कूड़ा-कर्कट का दिग्दर्शन कराया है। उसके बाद उससे निकले गीता-रत्न पर आई मलिनता का सप्रमाण निरूपण किया है। यह सब कुछ करते हुये स्वामी जी ने साम्प्रदायिक भावना के भूत को सर्वथा दूर रखा है। इसका प्रमाण पाठकों को स्थान स्थान पर इस गीता भाष्य में मिलेगा। पण्डित जी के अर्थ करने तथा आशय स्पष्ट करने का प्रकार बहुत ही मनोहर है।

इससे पूर्व भी स्वामी जी ने 'संध्या अष्टांगयोग' नामक अत्यन्त गवेषणापूर्ण एक लघु ग्रन्थ का निर्माण किया है जो कि प्रकाशित हो चुका है।

स्वामी जी ऐसे कृतविद्य ने अब जब लेखनी को व्यापृत करना आरम्भ किया है, तो अवश्यमेव आशा करनी चाहिये, कि साहित्य की श्री शोभा में पर्याप्त वृद्धि होगी।

स्वामी जी के इस ग्रन्थ से गीता भक्तों, गीता आलोचकों गीता के अनुशीलकों; सभी को लाभ होगा।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ

❀ ओ३म् ❀

प्रस्तावना

यातं यस्तनिमानमेनमखिलं विश्वायुषः पर्यये।
तन्तुं सृष्टिमयम्पुनर्वितनुते यज्ञाभिधंकेवलः॥
कर्मैतत्खलुकामनाविरहितन्तस्यानिशं चिन्तयन्।
आचर्तुं प्रभवेयमित्यतितरामभ्यर्थये तम्प्रभुम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक भाष्य लिखे गये हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी प्रकार के विद्वानों ने गीता के अभिप्राय को प्रकट करने के लिए, अपनी अपनी लेखनी का कौशल दिखाया है। लेखन-कला कुशल इन गम्भीर विद्वानों के भाष्यों की विद्यमानता में यद्यपि मेरे इस साधारण से लेख की कुछ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, परन्तु फिर भी, "हृदय के उद्गारों को छिपाना पाप है" यह भाव कुछ लिखने की प्रेरणा कर ही रहा है।

गीता का स्वाध्याय करते हुए, गीता में पर्याप्त संख्या में प्रक्षिप्त श्लोक प्रतीत हुआ करते थे। इन प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण गीता में से किसी एक निर्णीत सिद्धान्त को ढूँढ़ निकालना भी कठिन हो जाता था। साम्प्रदायिक लोगों के जितने भाष्य पढ़े, सब में गीता के कुछ अंशों को ठोक-पीट और खींच-तान कर, अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने की चेष्टा पाई गई। लोग कर भी क्या सकते थे? वर्तमान गीता में कई प्रकार के दार्शनिक विचार मिलते हैं। इनमें से किसी एक विचार को पुष्ट करने के लिए, उसके विरुद्ध दूसरे विचार का गला घोट कर सीधा करना उस विचारक

के लिए अनिवार्य ही था। यद्यपि इस प्रकार की छीना-झपटी का बाजार गरम था और इसमें कारण थे वे ही प्रक्षिप्त श्लोक; परन्तु जिस गीता को अनेक विद्वानों ने इसी रूप में यथार्थ माना हो, उसके विषय में सहसा कुछ लिखने का कितने ही दिनों से विचार होते हुए भी साहस नहीं हुआ।

इसी अवसर में लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य' पढ़ते हुए निम्न पंक्तियां सामने आईं—

"वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहिले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है। नई रचना नहीं की है तथापि यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कुछ भी हेर-फेर न किया होगा।" (गी०र०पृ० ५२५) इन पंक्तियों में मुझे अपने विचार के लिए कुछ आश्रय दीख पड़ा, और कुछ लिखने के लिए हृदय में उत्साह को जन्म मिला।

रावबहादुर चिन्तामणि वैद्य ने महाभारत के तीन कर्ता माने हैं—व्यास, वैशम्पायन और सौति। उनके विवेचन के अनुसार व्यास जी ने 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था। उसके श्लोकों की कितनी संख्या थी, यह निश्चय करने के लिए कोई आधार न मिलने पर इसके बारे में उन्होंने अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की। इसके बाद उसमें वैशम्पायन ने कुछ बढ़ाकर उसे 'भारत' नाम दिया। उनके 'भारत' की श्लोक संख्या वैद्य जी ने २४००० हजार मानी है उनका यह अनुमान आदि पर्व में लिखी सौति की अनुक्रमणिका के आधार पर है। वहां भारत संहिता की श्लोक संख्या २४००० बतलाई गई है। और शेष ७६००० हजार आख्यानों के श्लोक बतला कर सम्पूर्ण महाभारत की एक लाख श्लोक संख्या लिखी है। वैद्य जी का अनुमान है कि ये ७६००० श्लोक सौति ने रचकर मिलाए, और तब से ही बड़ा होने के कारण

इसका नाम 'महाभारत' हुआ। यद्यपि महाभारत के शब्दों से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये ७६००० श्लोक सौति के बनाए हुये हैं—वहां तो विषय विभाग के ढंग से आख्यानों और संहिता की संख्या को अलग अलग किया प्रतीत होता है—परन्तु १४००० श्लोकों के भारत संहिता नाम, और भाषा तथा भाव आदि के भेद को देखकर उन्होंने ऐसा अनुमान किया है।

यद्यपि वैद्य जी ने वैशम्पायन को व्यास का साक्षात् शिष्य नहीं माना, क्योंकि वैशम्पायन सर्प-सत्र के समय जनमेजय के काल में थे. और व्यास जी का काल महाभारत काल है। इसलिए उनकी धारणा है कि वैशम्पायन व्यास जी की शिष्य परम्परा में होंगे परन्तु महाभारत में उन्हें व्यास जी का साक्षात् शिष्य ही लिखा है। यहां तक लिखा है कि सुमन्तु, जैमिनि, पैल, शुकदेव और वैशम्पायन. पर्वत पर व्यास जी से वेद पढ़ा करते थे। और उन्हीं की आज्ञा से वेदों का विस्तार करने के लिये नीचे उतरे। यह भी सम्भव है कि व्यास जी के समय के और जनमेजय के समय के वैशम्पायन भिन्न हों। अस्तु जो भी हो, साक्षात् या परम्परा से वैशम्पायन जी का व्यास जी से गुरु-शिष्य सम्बन्ध अवश्य था। आदि पर्व (६३।६०) में यह भी लिखा है कि इन पांचों शिष्यों ने व्यास जी से महाभारत पढ़ कर पांच भारत संहिताओं की रचना की। यह सम्भव है कि शेष चार संहिताएँ लुप्त हो गई हों, और वैशम्पायन की भारत संहिता शेष रह गई हो। परन्तु फिर भी शिष्य होने के कारण वैशम्पायन की भारत संहिता का आधार व्यास जी का भारत ही रहा होगा। इसीलिये व्यास जी के और वैशम्पायन के ग्रन्थ में मतभेद का होना सम्भव नहीं। वैशम्पायन के ग्रन्थ में वेदों और उपनिषदों से भी मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने वेदों को पढ़कर ही संहिता की रचना

की है। हां सौति एक कथा-वाचक थे। महाभारत के सब आख्यान उन्हीं के लिखे हुए माने जाते हैं इसीलिए यह सम्भव है कि श्रोताओं के मनोरञ्जन के लिए आख्यानों की रचना करते हुए सिद्धान्त का ध्यान न रक्खा गया हो। श्रोताओं के तत्काल किए हुए प्रश्नों का उत्तर देते समय भी ऐसी त्रुटियों का हो जाना सम्भव है। परन्तु महाभारत में तो विरोध ऐसे स्थानों पर भी मिलता है, जो न तो सौति के दिए हुए प्रश्नों के उत्तर ही हैं, और न आख्यान ही। ऐसे पूर्वापर विरोधों और शास्त्र विरोधों को सौति के ही कहने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं। अतः विवश यह ही कहना पड़ेगा कि विभिन्न कालों में साम्प्रदायिक लोगों ने भी प्रक्षेप किए हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि लोग महाभारत में जहां अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, अपने प्रतिकूल विचारों को वे निकालते भी रहे हैं। यही कारण है कि सौति के काल से अब तक महाभारत की श्लोक-संख्या में वृद्धि नहीं हुई। 'महाभारत से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं, इसमें प्रमाण 'महाभारत की आज कल की श्लोक-गणना है। सौति ने महाभारत की श्लोक संख्या एक लाख गिनी है। परन्तु महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा १५००० और ४००० के बीच श्लोक कम हैं। क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग ९६००० श्लोक हैं। और कलिकाता संस्करण में ८५००० श्लोक। इस संख्या की कमी से स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं।

महाभारत में प्रक्षेप की इस भरमार को देख कर मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि वर्तमान गीता में समय समय पर श्लोक मिलाये जाते रहे हैं। और अपनी इस धारणा के दृढ़ हो जाने पर ही भूमिका की ये कुछ पंक्तियें लिखने का साहस किया है जो कि पाठकों के सामने हैं।

सम्पूर्ण महाभारत के प्रक्षेप का विवरण इस छोटी सी पुस्तक की भूमिका में लिखा नहीं जा सकता। इस लिये महाभारत के शान्ति-पर्व में से एक ही प्रकरण "सृष्टि रचनाक्रम" के प्रक्षेप का ही दिग्दर्शन कराने की यहां चेष्टा करूँगा। और यह भी इसलिए कि पाठक इस निर्णय पर पहुँच सकें कि गीता ही में नहीं, सारे ही महाभारत में पर्याप्त मात्रा में प्रक्षेप है।

इसके बाद गीता के प्रक्षेप का स्पष्टीकरण किया जावेगा। शेष गीता के श्लोकों का अर्थ भी आर्य-भाषा में लिख कर इस भूमिका के साथ ही प्रकाशित कर दिया जावेगा। प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण गीता के अध्यायों का विषय-विभाग भी संकीर्ण सा हो गया था। जैसे कि दूसरे अध्याय के विषय का नाम सांख्य योग था, परन्तु उसमें सांख्य योग और कर्मयोग दोनों विषय आ गये हैं। इसलिए शेष मूल-गीता का विषय विभाग भी अध्यायों के अनुसार कर दिया है।

गीता के उपदेशक योगिराज कृष्ण और गीता के सम्पादक वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास के लिए मेरे हृदय में अगाध श्रद्धा और प्रेम है। मैं समझता हूँ कि योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में, पुनरुक्ति और विरोध ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलने चाहिएँ। और फिर उस उपदेश के व्यास जी जैसे गम्भीर सम्पादक द्वारा सम्पादित होने पर तो उसमें और भी सोने में सुगन्धि आ जानी चाहिए। परन्तु फिर भी वर्तमान गीता में ये दोष दृष्टिगोचर होते हैं। और इन दोषों से गीता को बचाने के लिए उसमें से प्रक्षिप्त भाग को पृथक् कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। इसलिए यद्यपि यह साहस है, परन्तु फिर भी भक्तिभावना से प्रेरित होकर, जिन भागों को मैंने प्रक्षिप्त समझा उन्हें गीता से पृथक् कर ही दिया है। मेरे इस विवेचन में कितनी

ही ऐसी त्रुटियें होंगी जिनका कि मुझे ज्ञान भी न होगा। अतः मैं नतमस्तक होकर कृपालु विद्वानों की सेवा में प्रार्थना करता हूँ कि उन त्रुटियों से मुझे सूचित कर अनुगृहीत करें, जिससे कि भविष्य में संशोधन किया जा सके। जो कुछ मैंने लिखा है, उस सब का आधार तर्क है। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि जिसे मैंने प्रक्षिप्त कहा है, गीता में वह ही प्रक्षिप्त भाग है और नहीं। और यह भी दावे से नहीं कहा जा सकता कि यह प्रक्षिप्त भाग सारा ही प्रक्षिप्त है। यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि गीता के सदा से ये अठारह ही अध्याय थे जो कि आजकल गीता में हैं। क्योंकि वैष्णव सम्प्रदाय जिसकी ओर से गीता में प्रक्षेपों की विशेष भरमार है, महाभारत के समय में था ही नहीं। और वैष्णव सम्प्रदाय का प्रक्षेप निकाल देने पर गीता में अठारह अध्याय शेष रह ही नहीं जाते। और यह भी निश्चय पूर्वक कह नहीं सकते कि विषय विभाग के अनुसार जिन अठारह अध्यायों को हमने शेष रख लिया है, वही उसी प्रकार आरम्भ की गीता में होंगे।

॥इत्यलम्॥

विद्वानों का अनुचर—

मुक्तिराम उपाध्याय

भूमिका

यह मान लिया गया है कि महाभारत वेदव्यास, वैशम्पायन और सौति तीन विद्वानों की रचना है। यह भी निश्चित है कि गीता महाभारत का ही अंग है। और यह भी निर्णय स्वीकार कर लिया गया है कि गीता के उपदेशक योगिराज कृष्ण, और उनके विचारों को ग्रन्थ का रूप देने वाले महर्षि वेदव्यास हैं। हमारी धारणा है कि वर्तमान महाभारत और गीता जैसे व्यास जी की लेखनी से निकले थे, वैसे ही आज हमारे सामने नहीं हैं। उनमें कितने ही प्रक्षेप और बहिष्कार मध्यकाल मे किए गये हैं। बहिष्कार किस विषय, और किन श्लोकों का किया गया है, इसका पता लगाना असम्भव है। हां, प्रक्षेप के लिये वर्तमान ग्रन्थ में से ही कुछ आधार ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं। गीता के प्रक्षेप को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गीता जिस महाभारत का अंग है, उसमें भी पहिले युक्ति और प्रमाणों से प्रक्षेप सिद्ध किया जावे। इसके अनन्तर ही गीता में प्रक्षेप का सिद्ध करना युक्तियुक्त होगा। इसी दृष्टि से हम यहां पहले महाभारत के शान्ति पर्व में से एक ही प्रकरण 'सृष्टि-रचनाक्रम' को उद्धृत कर उसमें से बहुत से अंश को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

शान्ति-पर्व में 'सृष्टि-रचनाक्रम' का प्रसंग ९ विभिन्न स्थानों पर आया है। उन सारे ही प्रसंगों को पाठकों के सुभीते के लिए पहिले हम महाभारत से उद्धृत करेंगे। प्रत्येक प्रसंग के साथ ही अपने विशेष वक्तव्य में, उन प्रसंगों के पूर्वापर विरोध, और उपक्रम उपसंहार आदि के दोष भी प्रकट कर दिये जावेंगे। और अन्त में सामान्य विवेचन से यह निर्णय कर दिया जावेगा कि इन ९ में से कौन से आठ प्रसङ्ग प्रक्षिप्त हैं और कौन-सा मूल महाभारत का है।

महाभारत में प्रक्षेप

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या १

ऋषि भरद्वाज को भृगु का उपदेश

महाभारत शान्तिपर्व अ० १८०

प्रकृति से परे, निर्लेप और व्यापक भगवान् ने, सृष्टि रचना की इच्छा होने पर, अपने हजारवें अंश से पुरुष को उत्पन्न किया। इसे ऋषियों ने मानस आदि पुरुष कहा है। उस अनादि अविनाशी अजर अमर देव ने पहले महान् को उत्पन्न किया। महत् से अहंकार को, अहंकार से आकाश को, आकाश से जल को और जल से अग्नि तथा वायु को उत्पन्न किया। फिर अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई और इसके बाद स्वयम्भू ने दिव्य तेजोमय पद्म उत्पन्न किया। उस पद्म से वेदों का कोष ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। इसका अहंकार नाम है। यह सब भूतों का उत्पन्न करने वाला है। पांच धातुएँ ही ब्रह्मा हैं। उसकी हड्डी-पर्वत, मेदा और मांस–पृथिवी, समुद्र–रक्त, आकाश–पेट, वायु–निश्वास, तेज और अग्नि–नाड़िएँ, सूर्य और चन्द्रमा–नेत्र, ऊपर का आकाश–शिर, पृथिवी-पैर और दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। इसी ने अहंकार और सब भूतों को उत्पन्न किया।

इस प्रक्रिया में अपने हजारवें अंश से भगवान ने जिस आदि पुरुष को उत्पन्न किया वह कौन है? इसका पता नहीं चलता। निबन्ध के लेखक ने आगे चलकर, इस पुरुष से महत् से लेकर

पृथिवी पर्यन्त तत्वों की रचना कराई है। इसलिए सृष्टिकर्ता होने से यह पुरुष ब्रह्मा होना चाहिए। परन्तु आगे चलकर पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है, इसलिए यह पुरुष ब्रह्मा भी नहीं हो सकता। विष्णु भी इसे कह नहीं सकते क्योंकि विष्णु भगवान् से विष्णु की ही उत्पत्ति कहने का कोई अर्थ नहीं।

पद्म से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा का नाम आगे चलकर अहङ्कार कहा है। इस अंश में रचना का यह प्रकार अध्याय ३२७ सं० ८ के रचना प्रकार से मिलता है। परन्तु इसका और कोई भी भाग उसके साथ या किसी अन्य प्रक्रिया के साथ नहीं मिलता। उस प्रक्रिया में अहङ्कार से पांचों भूतों की उत्पत्ति मानी गई है और वहां केवल आकाश की। इस प्रक्रिया में आकाश से जल की, जल से अग्नि और वायु की, तथा अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् में, आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के क्रम से भूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसलिए यह प्रक्रिया उपनिषद् के विरुद्ध है।

आगे चलकर पांच धातुओं के समुदाय को ब्रह्मा कहा है। परन्तु धातुएँ, हड्डी, मेदा, मांस और रक्त चार ही गिनाई हैं।

और भी आगे चलकर, इसी ब्रह्मा के सूर्य और चन्द्रमा नेत्र ऊपर का आकाश शिर, पृथिवी पैर और दिशाएँ भुजाएँ बतलाई हैं। यह विराट् रूप हड्डी मांस आदि धातुओं से बने हुए ब्रह्मा का नहीं हो सकता।

पहिले से वर्णन तो ब्रह्मा का करते चले आ रहे थे और अन्त में उपसंहार करते हुए यह लिख दिया, "ऐसा यह अनन्त भगवान् विष्णु है।" कितना असम्बद्ध वर्णन है।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या २

मेरु पर्वत पर ब्रह्मा का भृगु को उपदेश

महाभारत शा० प० अ० १८१ ।

पहिले आकाश, शब्द के बिना, निश्चल, चन्द्रमा सूर्य और वायु से रहित सोया हुआ जैसा था। उससे जल उत्पन्न हुआ यह ऐसा ही दृश्य था, जैसे कि एक अन्धकार में दूसरा अन्धकार आ गया हो। उस जल के ही भण्डार से वायु उत्पन्न हुआ। फिर उस जल और वायु के सङ्घर्ष से, चमकता हुआ, अन्धकार को दूर करता हुआ, अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्नि से मिला हुआ वायु आकाश से जल फेंकने लगा, और उसका आकाश से गिरता हुआ जो स्नेह एक जगह ठहर गया, वह ही कठिन होकर पृथिवी बन गया। सब रसों, गन्धों, स्नेहों और प्राणियों को उत्पन्न करने वाली यह पृथिवी ही है।

विशेष वक्तव्य

१. इस प्रक्रिया में महत् और अहंकार के क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कही। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि-रचना का आंशिक (एक भाग का) वर्णन होगा। आंशिक वर्णन भी कई स्थानों पर मिलते हैं। जैसे कि "तैत्तिरीय उ० ब्रह्मानन्दवल्ली अ० १" में पहिले-पहिले आकाश की उत्पत्ति बतलाकर यहां से ही सृष्टि-रचना का क्रम चलाया गया है।

२. इस प्रक्रिया में प्रलय में आकाश का संहार नहीं माना। आकाश तत्व को शेष रख लिया गया है। यह विचार वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है। "ऋग्वेद मं० १० सूक्त १२९ मं० १" में "नो व्योमा परोयत्" (उस समय आकाश भी नहीं था) यह प्रकट किया गया है। और "तैत्तिरीय उ० ब्र० अ० १" में भी "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) यह कहा गया है। इन प्रमाणों से यह समझ में आ जाता है कि वेद और उपनिषद्, प्रलय में आकाश को बचा हुआ नहीं मानते। इस लिए इस रचना के प्रकार को वेद और उपनिषद् के विरुद्ध कहना ही पड़ेगा।

इस प्रक्रिया में आकाश से जल की और जल से वायु की उत्पत्ति कही है। परन्तु "तै० उ० ब्र० व० अ० १" में आकाश से वायु की वायु से अग्नि की और अग्नि से जल की उत्पत्ति कही है। इसलिए भी यह क्रम उपनिषदों के विरुद्ध है।

—०—

सृष्टि-रचना का प्रकार संख्या ३

राम, परशुराम, नारद, व्यास, असित, देवल और वाल्मीकि का संवाद भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाया।

महाभारत शां० प० अ० २०६

पुरुषोत्तम भूतात्मा ने वायु, अग्नि, जल, आकाश और पृथिवी इन महाभूतों को उत्पन्न किया। पृथिवी को पैदा करने के बाद वह भगवान् जल में सो गया। उसने मन से सब भूतों में श्रेष्ठ सङ्कर्षण का स्मरण किया। उस चिन्तन के बाद उससे सब तेजों का प्रकाश करने वाला प्रद्युम्न उत्पन्न हुआ। जल में योग निद्रा में सोए हुये महाराज ने, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीन देव उत्पन्न किये। उस महापुरुष की नाभि में सूर्य की तरह का विचित्र कमल पैदा हुआ। उस कमल से दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ ब्रह्मा उत्पन्न हुआ।

उसके उत्पन्न होने के बाद तमोगुण की महिमा से मधु नाम का असुर पैदा हुआ। उसे पैदा होते को ही पुरुषोत्तम ने मार दिया, और इसलिए भगवान् को, देवता, राक्षस और मनुष्य सब मधुसूदन कहने लगे।

ब्रह्मा के दक्ष, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु सात पुत्र हुए। ये सब उसकी मानस सन्तान थे। मरीचि से कश्यप और दक्ष से १३ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। उन कन्याओं में सब से बड़ी दिति थी। इन तेरहों कन्याओं के पति कश्यप हुए। दक्ष ने उनसे छोटी दश कन्याएँ और उत्पन्न कीं, और वे धर्म को दे दीं। धर्म के आठ पुत्र, रुद्र, विश्वेदेव, साध्य और मरुत्वान् उत्पन्न हुए। दक्ष ने उनसे छोटी २७ कन्याएँ और उत्पन्न कीं, और वे सोम को दे दीं। औरों से, गन्धर्व घोड़े, पक्षी, गौ, किम्पुरुष, मछलिएँ, वृक्ष और वनस्पति ये सब उत्पन्न हुए। आदित्य नामक श्रेष्ठ देवताओं को अदिति ने उत्पन्न किया। उनमें से विष्णु जिनके वामन और गोविन्द भी नाम हैं, प्रधान हुए। उस विष्णु के पराक्रम से देवताओं की लक्ष्मी बढ़ी, दानवों और दिति की आसुरी प्रजा का पराभव हुआ। दानवों को दनु ने और असुरों को दिति ने पैदा किया था। इसके बाद मधुसुदन ने, मृत्यु और दिन रात, दिन के पहिले भाग, दूसरे भाग तथा ऋतुकाल को उत्पन्न किया। उसी भगवान् ने जल से मेघों और स्थावर जङ्गमों को उत्पन्न किया। इसी प्रकार विशाल तेज से युक्त पृथिवी को उत्पन्न किया। फिर कृष्ण ने मुख से सौ ब्राह्मण, भुजाओं से सौ क्षत्रिय, जङ्घाओं से सौ वैश्य और पैरों से सौ शूद्र उत्पन्न किये और इन सब का अधिष्ठाता, ब्रह्मा को बनाया। उसने भूत और मातृगण के स्वामी विरूपाक्ष को तथा कुवेर, वरुण और इन्द्र को उत्पन्न किया। इन सब में से इन्द्र को राजा बनाया। उस समय

लोगों को जबतक शरीर रखने की इच्छा होती थी जीते रहते थे। मृत्यु का डर नहीं था। सतयुग और त्रेता में मैथुन धर्म नहीं था। सतयुग में सङ्कल्प से ही और त्रेता में छूने मात्र से सन्तान पैदा हो जाती थी। द्वापर में मैथुन धर्म का आरम्भ हुआ है।

विशेष वक्तव्य

१—इस सृष्टि रचना के प्रकार में, भूत-सृष्टि के बाद महत् और अहंकार की सृष्टि बतलाई गई है। यह रचना-क्रम, वेद, उपनिषद् और स्मृति इनमें से किसी के भी रचना-क्रम के अनुकूल नहीं।

२—विष्णु ही जल में सोये हुए थे, उनसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों की उत्पत्ति, इस रचना-क्रम में कही है। विष्णु से ही विष्णु की उत्पत्ति कहना युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। और फिर आगे चलकर इसी प्रकरण में दूसरी बार अदिति से भी विष्णु की उत्पत्ति कही गई है। दो बार उत्पत्ति क्यों?

३—दनु ने दानवों को उत्पन्न किया। दनु कहां से आ गया, इसका कोई पता नहीं।

४—दक्ष ने १० कन्याएँ धर्म को और २७ कन्याएँ सोम को दीं। धर्म और सोम कहां से उत्पन्न हुए इसका कोई पता नहीं।

५—काल की उत्पत्ति के बाद यहां, जल से, मेघों, स्थावर जङ्गमों और विशाल तेज से युक्त पृथिवी की उत्पत्ति कही है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में भी पांच भूतों की रचना महाराज कर चुके हैं, जिनमें कि पृथिवी भी आ गई है।

६—दक्ष, मरीचि, अत्रि आदि मनुष्यों, रुद्र विश्वेदेव आदि देवताओं, दैत्यों और दानवों की उत्पत्ति पहिले कह चुके हैं। कश्यप आदि ऋषियों के साथ दक्ष की कन्याओं का विवाह होने

के बाद योनिज सृष्टि का आरम्भ भी हो चुका है। इसके बाद अब फिर कृष्ण के मुख से सौ ब्राह्मणों, भुजाओं से सौ क्षत्रियों, जङ्घाओं से सौ वैश्यों और पैरां से सौ शूद्रों की अयोनिज सृष्टि का प्रसंग कहां तक युक्तिसंगत है, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें।

७—इस निबन्ध में लिखा है कि सतयुग में मृत्यु का भय नहीं था। परन्तु इससे पहिले दैत्यों को उत्पत्ति के बाद मृत्यु की उत्पत्ति कर दी गई थी। और मृत्यु की उत्पत्ति से तात्पर्य है, लोगों का इस लोक से परलोक चला जाना। इसलिए उस समय मृत्यु का भय नहीं था, यह कथन न्याय के अनुकूल नहीं है।

८—इस लेख में कहा है कि सतयुग और त्रेता में मैथुन धर्म नहीं था। सतयुग में संकल्प से ही और त्रेता में छूने मात्र से सन्तान पैदा हो जाती थी। यह प्रसङ्ग हरिश्चन्द्र आदि की कथाओं और त्रेतायुग के रामायण के इतिहास से सर्वथा विरुद्ध है।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार सं० ४

व्यास जी का शुकदेव जी को उपदेश

म० भा० शा० प० अ० २३८

सृष्टि के आरम्भ में अजर अमर परब्रह्म और त्रिगुणात्मक प्रधान थे। इस प्रधान के ही वैष्णवी प्रकृति महामाया आदि नाम हैं। यह सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का समुदाय ही है।

अनेक प्रकार के जीवों को कर्म भोग देने के लिए इसका प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् का समीप होना ही इसमें क्षोभ (हरकत) पैदा करने के लिए पर्याप्त है। भगवान् ने उसे उत्पत्ति के अनुकूल बनाते हुए उसमें प्रविष्ट होकर, क्षोभ उत्पन्न किया।

क्षोभ होने पर उस प्रकृति से महान् की उत्पत्ति हुई। इस तत्व को बड़ा होने के कारण ही महान् कहते हैं। इसमें भी सत्व, रज और तम तीनों गुणों का मेल है। इस महान् को भी चारों ओर से प्रकृति ने व्याप्त कर लिया। और उसके प्रभाव से उस महान् से सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी तीन प्रकार का अहंकार पैदा हुआ। इनमें से तमोगुणी अहङ्कार से शब्दतन्मात्रा और उससे आकाश, आकाश से स्पर्शतन्मात्रा और उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा और उससे अग्नि, अग्नि से रसतन्मात्रा और उससे जल उत्पन्न हुआ। जल से गन्ध तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, और फिर वह जल धीरे २ बरफ की तरह जम कर कठिन होता हुआ पृथिवी बन गया। इस प्रकार पांच भूतों की उत्पत्ति हुई, इन भूतों की ही परस्पर मेल से उत्पन्न हुई विशेष अवस्था का नाम अन्न है। ग्यारह इन्द्रियें और मन ये देवता तैजस हैं। इन सब परिवर्तनों में अनेक भेदों में बँटा हुआ काल भी कारण है। गुण भेद से परमात्मा के भी तीन रूप और क्रियाएँ हैं। सृष्टि की रचना करने वाला होने से उसे ब्रह्मा, पालन करने वाला होने से विष्णु और संहार करने वाला होने से शिव कहते हैं

विशेष वक्तव्य

सृष्टि रचना की इस प्रक्रिया में ग्यारह इन्द्रियों और मन को तैजस (तेज से पैदा होने वाले) कहा है। तेज के दो काम हैं प्रकाश और प्रवृत्ति। और इन्द्रियें भी प्रकाश और प्रवृत्ति के ही करने वाली हैं। कर्मेन्द्रियें प्रवृत्ति (कर्म) करने वाली हैं, और ज्ञानेन्द्रियें तथा मन प्रकाश (विषयों का ज्ञान) करने वाली हैं। प्रकाश और प्रवृत्ति सत्वगुण और रजोगुण के काम हैं। इसलिये कर्मेन्द्रियों में रजोगुण और ज्ञानेन्द्रियों में सत्वगुण प्रधान समझना

चाहिए। पहिले तमोगुण प्रधान अहङ्कार से पांचों की उत्पत्ति कह आये हैं। रजोगुणी और सत्वगुणी अहङ्कार शेष है. उसका कोई कार्य अभी तक नहीं बतलाया गया। इस लिए रजोगुणी अहङ्कार का कर्मेन्द्रियें और सत्वगुणी अहङ्कार का ज्ञानेन्द्रियें, तथा मन कार्य समझने चाहिएँ। व्यास जी ने इनकी उत्पत्ति इकट्ठी ही कही है। इसलिए इन्हें एक "तैजस" शब्द से ही कहा गया। उनकी पहिली प्रक्रिया के अनुसार, उनके इस शब्द का ऊपर लिखा अर्थ अनायास समझ में आ जाता है।

इस प्रक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु और शिव कोई शरीरधारी देव प्रकट नहीं किये गये। यहाँ पर गुण-कर्म के भेद से एक ही परमात्मा के ये सब नाम कहे गये हैं।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ५

देवल और नारद का संवाद

महा० शा० प० अ० २१८।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच महाभूत हैं। आत्मा से प्रेरित हुआ २ काल इन पांचों से ही प्राणियों को उत्पन्न करता है। जो इससे अधिक कहता है वह झूठ कहता है। हे नारद! काल को और इन पांचों भूतों को, सदा रहने वाले, अविनाशी और स्थिर समझो। ये सब महान् तेज की राशि हैं, और स्वभाव से ही ऐसे हैं। जल, आकाश, पृथिवी, वायु और अग्नि इन पाँच भूतों से परे किसी की, न प्रमाण से और न युक्ति से ही सिद्धि हो सकती है, इसमें कोई संशय नहीं। मनुष्य का शरीर पृथिवी से, श्रोत्र आकाश से, चक्षु सूर्य से, प्राण वायु से, और शरीर खून पानी से बना है।

विशेष वक्तव्य

इस प्रक्रिया में प्रकृति, महत् और अहङ्कार के क्रम से सृष्टि का आरम्भ नहीं किया गया। महाभूतों से सृष्टि का आरम्भ किया है। परन्तु उन महाभूतों को भी स्थिर, अविनाशी और सदा स्वभाव से ही ऐसे रहने वाले माना गया है। यदि इन्हें स्थिर और स्वभाव से ही सदा रहने वाल न माना गया होता और प्रलय काल में नष्ट होकर, सूक्ष्म रूप में जाकर, पृथ्वी के जल में, जल के अग्नि में, अग्नि के वायु में, और वायु के, आकाश में लीन हो जाने का निर्देश किया गया होता, तो इसे भी वैशेषिक और न्याय के ढङ्ग की, आंशिक (एक भाग की) सृष्टि रचना का नाम दिया जा सकता था। परन्तु यहां ऐसा नहीं किया गया। इसलिये इस प्रक्रिया को आंशिक नहीं माना जा सकता। इस प्रक्रिया में निम्न दोष हैं—

१—यहां भूतों को स्थिर और अविनाशी माना गया है, परन्तु वेद इन सब का प्रलय के समय अभाव मानते हैं। प्रमाण के लिए देखिए "ऋग्वेद, मण्डल १० सूक्त १२९।"

२—भूतों का प्रलयकाल में स्थिर रहना उपनिषद् नहीं मानते परन्तु इस प्रक्रिया में माना गया है। देखिए—तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अ० १।"

३—इस प्रक्रिया में कहा गया है कि भूतों से परे कुछ नहीं है। परन्तु भूतों से परे भी सृष्टि विज्ञान के विद्वान् कपिल और मनु अहंकार, महत् और प्रकृति की सत्ता मानते हैं। उपरोक्त दोषों के कारण यह प्रक्रिया वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है। और जिस वैशेषिक प्रक्रिया का रूप लेखक ने इसे देना चाहा है उसके भी यह विरुद्ध है।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार सं० ६।

जनक और वशिष्ठ का संवाद

म० भा० शा० प० अ० ३०८

मूर्ति से रहित शम्भु भगवान् ने मूर्तिधारी स्वयम्भू को उत्पन्न किया। हिरण्यगर्भ, बुद्धि, महान् और विरञ्चि इसी के नाम हैं। इसने अनेक रूप संसार को पैदा किया इसलिए इसका विश्वरूप भी नाम है। इसने दो प्रकार के अहङ्कार को उत्पन्न किया। उनमें से एक का नाम विद्यासर्ग और दूसरे का नाम अविद्यासर्ग है। वह प्रजापति अपने आपको (अव्यक्त) निराकार रूप से, अहङ्कार से युक्त, व्यक्त (साकार) रूप में परिणत करता है, इसी का नाम विद्यासर्ग है। और महत् से अहङ्कार को भी उत्पन्न करता है। इसी का नाम अविद्यासर्ग है। इस अहङ्कार से, वायु, अग्नि, जल आकाश, पृथिवी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध दशों इकट्ठें उत्पन्न हुए। इसके बाद दस इन्द्रियें और मन भी इकट्ठे ही उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह चौबीस तत्वों की उत्पत्ति कही है। पचीसवां तत्व अव्यक्त है। वह ज्ञान से व्यवहार करने वाला चेतन है।

विशेष वक्तव्य

इस प्रक्रिया में विद्यासर्ग और अविद्यासर्ग दो प्रकार के अहङ्कार की उत्पत्ति ब्रह्मा ने की है। अविद्यासर्ग से तो आगे चल कर भूतों को उत्पन्न किया गया। पर विद्यासर्ग का कोई उपयोग इस प्रक्रिया में नहीं दिखलाया गया। विद्यासर्ग नाम से भी, और प्रजापति ने स्वयं अहङ्कार का रूप धारण किया है इसलिए भी यह परिणाम प्रतीत तो चेतन ही होता है। परन्तु यह चेतन क्या है और इसका क्या उपयोग है उसका स्पष्टीकरण नहीं किया

गया। उपनिषदों, स्मृतियों और दर्शनों में भी इस प्रकार के विद्यासर्ग अहङ्कार का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विषय में यह भी कहा है कि "प्रजापति अपने निराकार रूप से साकार" 'अहङ्कार से युक्त' रूप में परिणत (तबदील) हुआ। परन्तु आरम्भ में ही मूर्ति से रहित भगवान् ने इसे मूर्तिधारी पैदा किया है, फिर यह अव्यक्त कैसे रहा ?

महाभूतों और शब्द आदि पांच तन्मात्राओं की अहंकार से यहां इकट्ठी ही उत्पत्ति कही है। परन्तु सृष्टि रचना के चौथे प्रकार में इनकी उत्पत्ति क्रम से कही गई है। उस प्रक्रिया का उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों से समर्थन होता है, इसलिए उसे ही ठीक मानना उचित प्रतीत होता है।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ७।

ऋषि याज्ञवल्क्य का जनक को उपदेश

महाभारत शा० प० अ० ३१५

आठ प्रकृतियें हैं, सोलह विकार हैं। यह सामान्यतया सांख्य और योग का और विशेष रूप से सांख्य का मत है। इन चौबीसों में से ७ व्यक्त और शेष अव्यक्त हैं। अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, पृथिवी, वायु, आकाश, ज्योति और जल ये आठ प्रकृतियें हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध, वाणी हाथ, पैर, अपान; जननेन्द्रिय और मन ये सोलह विकार हैं। इससे आगे ६ सर्ग कहते हैं। अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति पहिला सर्ग। महान् से अहंकार की उत्पत्ति दूसरा सर्ग। अहङ्कार से मन की उत्पति तीसरा सर्ग। मन से पांच महाभूतों की उत्पति चौथा सर्ग। महाभूतों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति पांचवां सर्ग। श्रोत्र चक्षु, जिह्वा और नासिका की उत्पत्ति

छठा सर्ग। इसे चिन्तात्मक सर्ग कहते हैं। इससे आगे श्रोत्र इन्द्रियों का समुदाय उत्पन्न होता है। यह सातवां सर्ग है। इसे ऐन्द्रियक कहते हैं। ऊपर का स्रोत और टेढ़ा स्रोत और नीचे का स्रोत उत्पन्न होते हैं यह नवां सर्ग है, इसे आर्जवक कहते हैं।

विशेष वक्तव्य

इस रचना प्रकार को "सृष्टि-रचना प्रकार सं० ४" के ढङ्ग से लिखा गया है। परन्तु उसके साथ भी यह मिलता ·हीं। उस प्रकार में पांच भूतों की उत्पत्ति अहङ्कार से मानी है और यहां मन से। शब्द आदि तन्मात्राओं की उत्पत्ति चौथे प्रकार में भूतों से पहिले मानी गई है और यहां भूतों के बाद में। इन्द्रियों की उत्पत्ति वहां अहङ्कार से कही गई हैं और यहां भूतों से। चौथा प्रकार ऋषि कपिल और मन के रचना-क्रम से मिलता है, उपनिषदों से भी उसकी सङ्गति ठीक बैठती है। इसलिये उस प्रकार को ही युक्त और इसे अयुक्त समझना चाहिए।

इस प्रक्रिया में श्रोत्र आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति दो बार कही है। सम्भवतः दूसरी बार इन्द्रियों के गोलकों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया हो। परन्तु इन्द्रियों के गोलक तो शरीर के ही भाग हैं। अतः शरीर की रचना के वर्णन में उनकी रचना का वर्णन आना चाहिए था, यहां नहीं।

इस रचना प्रकार में आर्जवक नाम से कहे गये, ऊपर का नीचे का और टेढ़ा स्रोत क्या चीजें हैं, यह समझ में नहीं आता। इस स्रोत का अर्थ आकाश भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति पहिले कहीं जा चुकी है। और यदि यह स्रोत शून्य (खाली स्थान) का नाम है, तो उसकी उत्पत्ति कहना असङ्गत है, क्योंकि वह नित्य है।

इत सृष्टि क्रम को लेखक ने श्रुति के अनुकूल कहा है इसकी प्रतिपादक श्रुति कौन है इसका कोई पता नहीं। कपिल और मनु को तो ऐसी श्रुति कोई नहीं मिली, अन्यथा वे भी इसी रीति से रचना-क्रम का व्याख्यान करते।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ८।

आसुरि मुनि को ऋषि कपिल का उपदेश।

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२७।

उत्तम रज, सत्व, प्रधान, तत्व, अजर, अक्षर इत्यादि अव्यक्त के नाम हैं। अव्यक्त से पहिला तत्व व्यक्त उत्पन्न हुआ। पुरुष, महत्, बुद्धि, स्मृति, धृति, मेधा, व्यवसाय, समाधि, प्राप्ति आदि इस व्यक्त के नाम हैं। इस व्यक्त से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, वह व्यक्ततर (अधिक व्यक्त) है। विरञ्चि, अभिमान, अविवेक, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मद, दर्प और ममता ये सब इस व्यक्ततर 'अहंकार' के काम हैं। अहंकार से, शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध वाले पांच महाभूतों को उत्पन्न किया गया। इसके साथ ही, श्रोत्र, नासिका, चक्षु, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियें, और वाणी, हाथ, पैर, अपान और जननेन्द्रिय ये कर्म-इन्द्रियें उत्पन्न हुईं।

विशेष वक्तव्य

यह सृष्टि रचना का प्रकार भी औरों की अपेक्षा विलक्षण ही है। यहां प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है। परन्तु उसी अव्यक्त शब्द से चेतना शक्ति को भी ग्रहण किया गया है। इस मूल तत्व से उत्पन्न हुए महत् और उससे उत्पन्न हुये अहंकार को भी यहां, जड़ चेतन का मिला हुआ परिणाम ही माना है और इसी लिए

इन दोनों तत्वों को दो दो प्रकार के नाम दिये गये हैं। दूसरे परिणाम का नाम पुरुष भी है और महत भी। तीसरे परिणाम को विरञ्चि (ब्रह्मा भी कहा है और अहंकार भी। विरञ्चि शब्द का ब्रह्मा अर्थ हमने अपनी ओर से नहीं किया। यह मत इस प्रक्रिया के लेखक का ही है। इस अपने कथन के प्रमाण में हम इसी अध्याय का तेहरवां श्लोक उद्धृत करते हैं।

अहं कर्तेत्यहंकर्ता ससृजे विश्वमीश्वरः।
तृतीयमेनम्पुरुषमभिमानगुणं विदुः॥
म० भा० शा० प० अ० ३२७ श्लो० १३

भाव मैं करता हूँ मैं करता हूं इस अहंकार की भावना से ईश्वर ने संसार को उत्पन्न किया। यह अभिमान गुण वाला तीसरा पुरुष है।

यह श्लोक यहां अहंकार की रचना के प्रसंग में दिया गया है। अहंकार प्रकृति से तीसरा है इसीलिये इस पुरुष को भी तीसरा कहा गया है। इस पुरुष को यहां सृष्टि की रचना करने वाला कहा गया है. इस लिये इस तीसरे पुरुष विरञ्चि शब्द का अर्थ ब्रह्मा ही होना चाहिये। अहंकार में इस जड़चेतन के मेल को देखकर, दूसरे परिणाम महत् के लिये प्रयुक्त हुआ पुरुष शब्द भी किसी चेतन का ही कहने वाला मानना पड़ेगा। यह दूसरा पुरुष है कौन इसका कुछ पता नहीं, क्योंकि इससे इस प्रक्रिया में कोई काम नहीं लिया गया। परिणामों के इस स्वरूप को देखकर आरम्भ के अव्यक्त शब्द के अर्थ भी जड़ और चेतन दोनों ही समझने पड़ेंगे।

इस प्रकार अहंकार तक चेतन जड़ को मिला कर ही सृष्टि रचना की गई है। परन्तु आगे चल कर भूतों और इन्द्रियों की रचना में चेतन को छोड़ दिया गया है। जब कि पहिले सब परिणाम जड़ चेतन मिश्रित तत्व के हैं तो आगे भी ऐसी ही प्रक्रिया चलनी चाहिये थी।

सृष्टि रचना के चौथे प्रकार में तन्मात्राओं के क्रम से भूतों की उत्पत्ति कही गई है और यहां शब्द आदि गुणों के सहित आकाश आदि भूतों को इकट्ठे ही उत्पन्न किया गया है। वहां आकाश से वायु, वायु से अग्नि; इस क्रम से भूतों की उत्पत्ति कही गई है, और यहां सब भूतों की उत्पत्ति इकट्ठी ही मानी गई है। यह सारी ही प्रक्रिया चौथी प्रक्रिया के विरुद्ध है, और चौथी प्रक्रिया श्रुति-स्मृति के अनुकूल है, इसलिए उसे ही यथार्थ मानना उचित प्रतीत होता है।

—०—

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ६।

विष्णु का नारद को उपदेश।

महाभारत शां० प० अ० ३४७

हे नारद! यह जगत् को धारण करने वाली पृथिवी जल में लीन हो जाती है। जल ज्योति में, ज्योति वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन अव्यक्त में और अव्यक्त पुरुष में लीन हो जाता है। उस सनातन पुरुष से परे कोई नहीं और न उसके बिना कोई नित्य है। वह ही वासुदेव है, सनातन है।

पृथिवी, जल, वायु, ज्योति और आकाश ये सब मिलकर ही शरीर बनता है। उस शरीर में प्रविष्ट होकर उसका संचालन करने वाला जीव है। उसी का नाम शेष और उसी का नाम सङ्कर्षण है। वह अपने कर्मानुसार ही सनत्कुमार बना। जिस मन में सब भूतों का लय होता है। उसीका नाम प्रद्युम्न है। उससे जिस कार्य कारण सङ्घात की उत्पत्ति हुई उसका नाम अनिरुद्ध है। जीव ही

वासुदेव, क्षेत्रज्ञ और सङ्कर्षण है। सङ्कर्षण से प्रद्युम्न नामक मन और उससे अनिरुद्ध नामक अहङ्कार उत्पन्न होता है। उसी का नाम ईश्वर है। नारद! यह सब स्थावर जङ्गम जगत् मुझ से ही उत्पन्न होता है। यह न समझना कि मैं रूपवान् हूं। मैं एक क्षण में ही तेरी आंखों से ओझल हो सकता हूं। जो भक्त, योग युक्त होते हैं वे मेरे अन्दर ही प्रवेश करते हैं। इन तत्त्वों में पचीसवां पुरुष मैं ही हूं।

विशेष वक्तव्य

सृष्टि रचना के इस प्रकार की समता कई अंशों में "सृष्टि रचना प्रकार सं० ३" से है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं में जीव को सङ्कर्षण या वासुदेव, प्रकृति के पहिले परिणाम 'महत्' को प्रद्युम्न और प्रकृति के दूसरे परिणाम 'अहंकार' को अनिरुद्ध कहा है।

इस प्रक्रिया में जीव को ही सङ्कर्षण, वासुदेव और क्षेत्रज्ञ कहा है। और तीसरे परिणाम अहंकार को अनिरुद्ध तथा ईश्वर कहा है। ये विचार वैदिक, स्मार्त और दार्शनिक किसी भी सृष्टि प्रक्रिया के अनुकूल नहीं हैं। गम्भीर दृष्टि से देखें तो यह बात समझ में आ जाती है कि इन दोनों ही प्रक्रियाओं में, योगिराज कृष्ण के ऐतिहासिक रूप को उड़ाकर उसे केवल कल्पना की चीज सिद्ध करने का यत्न किया गया है। जीव का ही नाम वासुदेव तथा संकर्षण रख देने से वसुदेव के पुत्र वासुदेव की सत्ता में सन्देह पड़ जाना सम्भव ही है और फिर विशेषता यह कि उनकी सन्तान प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को महत तत्व और अहंकार तत्व के पर्याय बतला कर इस कल्पना को और भी सम्भव बना दिया है। इस संवाद को बनाया भी गया है विष्णु और नारद के नाम से जिससे कि सीधी भगवान् की वाणी होने के कारण कोई इस पर अश्रद्धा भी न कर सके।

सम्भवतः इस प्रक्षेप काल में कृष्ण भगवान् को अवतार मानने वाले और इसके विरोधी दोनों ही पक्ष होंगे। और विरोधी पक्ष वालों ने कृष्ण भगवान् की सत्ता को सर्वथा ही मिटा देने के लिए यह प्रक्षेप महाभारत में किया होगा।

ऐसे प्रक्षिप्त भाग ही, महाभारत के ऐतिहासिक पुरुषों के विषय में, ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि को बदल देते हैं और ऐसे प्रमाणों के आधार पर ही सम्भवतः उन्हें महाभारत को काल्पनिक कहने का अवसर मिलता है।

महाभारत के ऊपर के प्रकरणों को पाठकों ने ध्यान से पढ़ा होगा। इनमें से प्रत्येक के विषय में हम अपने विचार विशेष वक्तव्य में प्रकट कर आये हैं अब इन सब के ही सम्बन्ध में सामान्य विचार किया जावेगा।

सृष्टि रचना के नौ प्रकार शान्ति पर्व में नौ विभिन्न स्थानों में आये हैं। ये सारे ही प्रसंग व्यास जी के अपने नहीं हैं। इस निर्णय के लिये पाठक नीचे लिखे हेतु पढ़ें—

१—यदि ये सब प्रकरण व्यास जी के अपने होते तो इनमें परस्पर विरोध न होता।

२—व्यास जी जैसे वेदों के अनन्य भक्त, सुयोग्य सम्पादक अपने ग्रन्थ में पूर्वापर विरुद्ध और श्रुति-स्मृति विरुद्ध मतों को स्थान नहीं दे सकते थे।

३—सृष्टि रचना के एक ही विषय को नौ बार नौ स्थानों में प्रकट करने की आवश्यकता न थी।

यह कहा जा सकता है कि ये सब विभिन्न ऋषियों के मत दिखलाए गये होंगे। परन्तु इस विचार को भी नीचे लिखी युक्तियें अयुक्त सिद्ध कर देती हैं—

१—यदि एक ही विषय में नौ मत व्यास जी को दिखाने अभीष्ट होते तो इन सब को एक ही स्थान पर दिखला कर अन्त में वे अपना निश्चित मत लिखते।

२—इनमें से तीन प्रसङ्गों का वर्णन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और व्यास हैं। वर्तमान महाभारत के अनुसार, ब्रह्मा सृष्टि की रचना करने वाले हैं। विष्णु स्वयं हैं ही ईश्वर और व्यास जी विष्णु के अवतार हैं। इसलिए इन तीनों के मतों में तो विरोध होना ही नहीं चाहिए। परन्तु इनके मतों में भी विरोध मिलता है।

३—इन नौ मतों में से एक मत, राम, परशुराम, नारद, व्यास असित और वाल्मीकि इन ऋषियों का परस्पर संवाद है। इनमें से राम, परशुराम, वाल्मीकि और व्यास समानकालीन नहीं हैं, इसलिए यह प्रसंग स्पष्ट ही कल्पित प्रतीत होता है। और यदि यह कल्पना की जावे कि राम आदि कोई व्यास के समय के ऋषि ही होंगे तो इस संवाद में व्यास जी की प्रधानता होने से यह मत व्यास जी के "व्यास शुक संवाद" के अनुकूल ही होना चाहिए था, परन्तु है विरुद्ध।

अब पाठक समझ गए होंगे कि इनमें से आठ मत न व्यास जी के हैं, और न अन्य ऋषियों के, किन्तु कल्पित और प्रक्षिप्त हैं। अब यह देखना है कि इनमें से मूल महाभारत का कौन सा मत है जिसे कि व्यास जी का अपना मत कहा जा सके। हमारा निश्चय है कि इन में से व्यास जी का अपना मत "व्यास शुक संवाद" सृष्टि का चौथा प्रकार है। इसी का श्रुति-स्मृति और दर्शन अनुमोदन करते हैं। शेष प्रसंग प्रक्षिप्त हैं। इस निर्णय पर पहुँचने के लिए पाठक सृष्टिक्रम के प्रतिपादक ऋग्वेद के तीन मन्त्रों की व्याख्या आगे पढ़ें।

ओं ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥२॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवींञ्चान्तरिक्षमथोस्वः।

॥ऋ०१०।१९०।१।२।३॥

भावार्थ—(अभीद्धात्तपसः) ज्ञान के भण्डार भगवान् के समुन्नत तप (ईक्षण द्वारा प्रकृति में उत्पन्न किए क्षोभ) से (ऋतञ्च सत्यञ्च अजायत) ज्ञान और सत्य की उत्पत्ति हुई।

यहां सत्य शब्द से सत्वगुण प्रधान प्रकृति का पहला परिणाम महत् तत्व लिया गया है। अन्तःकरण में सत्वगुण के प्रधान होने पर ही सत्य का आभास होता है इसलिये इसे सत्य कहा है। सत्यज्ञान की उत्पत्ति भी तप से ही होती है इसलिए यहां यह आलङ्कारिक वर्णन है। अर्थात् जिस प्रकार तप से सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार भगवान् के द्वारा प्रकृति में क्षोभ या ताप होने पर सत्य की या महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। (ततो रात्र्यजायत उसके बाद रात्रि उत्पन्न हुई। यहाँ यह भी सृष्टि रचना का आलङ्कारिक वर्णन ही है। जिस प्रकार सत्वगुण प्रधान दिन के बाद, तमोगुण प्रधान रात्रि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सत्वगुण प्रधान महत् तत्व के बाद तमोगुण प्रधान अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार रात्रि निद्रा और आलस्य के देने वाली है, इसी प्रकार अहङ्कार भी प्रमाद और आलस्य का देने वाला है। रात्रि को भी कुछ देने वाली होने से रात्रि कहा जाता है, और अहङ्कार को भी यहां आलस्य तथा प्रमाद का देने वाला होने से रात्रि कह दिया गया है। लोक व्यवहार में भी गुणों के आधार पर यह समता देखने में आती है। मनुष्य में सत्वगुण के प्रधान होने पर उसे महत्व

या बड़प्पन मिलता है। परन्तु उस महत्व के मिलने के बाद ही उसके अन्दर तमोगुण प्रधान अभिमान उत्पन्न हो जाता है। अहङ्कार को यदि भगवान् यहां रात्रि न कहते तो इस अलङ्कार की दृष्टि से प्राप्त होने वाले ऊपर लिखे उपदेश हमें नहीं मिल सकते थे। (ततः समुद्रो अर्णवः) इसके बाद समुद्र अर्णव बन गया। समुद्र नाम वेद की परिभाषा में आकाश का भी है और जल के भण्डार का भी। "जल के भण्डार" अर्थ को प्रकट करने वाला यहां दूसरा शब्द अर्णव है, इसलिये पहले समुद्र शब्द का अर्थ आकाश तत्व ही करना पड़ेगा। इसलिय इस वाक्य का यह अर्थ हो गया—"इसके बाद आकाश तत्व जल का भण्डार बन गया।"

यहां अहंकार की उत्पत्ति के बाद आकाश की और आकाश की उत्पत्ति के बाद आकाश को जल की अवस्था तक पहुंचने के लिये किन किन सूक्ष्म अवस्थाओं को पार करना पड़ा इस का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया।

वेद हैं भी सूत्र रूप। उन में यदि प्रत्येक ज्ञान का पूरे विस्तार से व्याख्यान किया जाता, तो वेद इतने बड़े पुस्तक बन जाते कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पारायण न कर सकता। भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि इसलिये दी है कि वह उसके द्वारा ज्ञान के अंकुरों को ग्रहण कर, उसका विस्तार करता हुआ, शाखा प्रशाखाओं को बढ़ाकर उसे फल फूल देने वाला वृक्ष बना सके।

बीच की इन दोनों अवस्थाओं का व्याख्यान ऋषियों ने किया है। अहंकार को आकाश की अवस्था तक पहुंचने के लिये, महर्षि कपिल ने और भगवान् मनु ने बीच में शब्दतन्मात्रा (आकाश की सूक्ष्म अवस्था) की आवश्यकता बतलाई है। और आकाश को जल की अवस्था तक पहुंचने के लिये, महर्षि तित्तिर ने तैत्तिरीय उपनिषद् में और प्रशस्तदेव आचार्य ने वैशेषिक दर्शन के भाष्य में बीच में

वायु और अग्नि की आवश्यकता बतलाई है। और महर्षि कपिल तथा मनु, वायु और अग्नि से भी प्रथम, उन दोनों के सूक्ष्मरूप स्पर्शतन्मात्रा और रूपतन्मात्रा की आवश्यकता बतलाते हैं। और महर्षि वेदव्यास ने पूर्व लिखे गये "सृष्टि रचना के प्रकार संख्या४" में इन महर्षियों के प्रकाशित किये हुए, सृष्टि रचना के इन सब अंगों का सुन्दर संग्रह किया है। (समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उस जल के रूप में परिणत (तबदील) हुए, आकाश से, सब लोकों को अपने अन्दर बसाने वाली, अथवा पूरे वर्ष में रहने वाली कोई वस्तु उत्पन्न हुई।

जल के अन्दर यह क्या चीज उत्पन्न हुई इसे "शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ ब्राह्मण काण्डिका १" में एक साल तक जल में रहने वाला एक बड़ा भारी प्रकाशमय अण्डा कहा है। मनु भगवान् ने भी प्रथम अध्याय के नवें श्लोक में इसका यह ही आकार और यह ही नाम कहा है।

हम पहिले लिख आये हैं कि इस अण्डे का नाम अधिसंवत्सर इसलिए है कि इसमें लोक-लोकान्तर बसे हुए हैं, और इसलिए भी कि एक साल पानी के अन्दर ही रह कर बढ़ता और पकता रहा है।

हमारे ये दोनों ही अर्थ व्याकरण की दृष्टि से तो ठीक हैं ही अब हम इन्हें युक्ति और प्रमाणों से भी उपपन्न कर देना उचित समझते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रों में आगे चलकर पृथिवी सूर्य आदि लोकों की उत्पत्ति कही है। वे लोक लोकान्तर किस चीज में से उत्पन्न हुए यह जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण को पढ़िए।

"तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत"

शतपथ का० ११ ब्रा० ६ क० १।

भावार्थ—यह प्रकाशमय अण्डा एक साल तक जल के अन्दर तैरता रहा। इस प्रकार यहाँ जल से इस अण्डे की उत्पत्ति बतला कर आगे चलकर इसी अण्डे को तोड़ कर इससे पृथिवी आदि लोकों की उत्पत्ति कही है।

इन मन्त्रों में भी आगे लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति कही है, और संवत्सर के अन्दर रहने वाली कोई चीज भी कही है, इसलिये इस अधिसंवत्सर को लोकों की उत्पत्ति का बीज वह शतपथ वाला अण्डा ही कहना पड़ेगा। हमारे इसी विचार को मनु के प्रथम अध्याय का नवां श्लोक भी पुष्ट कर रहा है।

जल की उत्पत्ति हो चुकी। उसके अन्दर अधिसंवत्सर नामक महान् अण्डा भी उत्पन्न हो गया। इसके आगे चलकर इस अण्डे से स्थूल पृथिवी लोक की उत्पत्ति होने वाली है। जिस प्रकार आकाश, अग्नि, वायु और जल के सूक्ष्म रूप उनकी तन्मात्राएँ हैं और उनकी उत्पत्ति से पहिले, ऋषियों ने उनके सूक्ष्म रूपों की उत्पत्ति का व्याख्यान किया है। उसी प्रकार पृथिवी की उत्पत्ति से पहिले, जल से, इस अण्डे में—पृथिवी का सूक्ष्म रूप गन्धतन्मात्रा भी उत्पन्न होनी चाहिए। इसका भी स्पष्टीकरण यहां इन मन्त्रों में नहीं किया गया है। परन्तु ऋषि कपिल और मनु ने इस अंश का व्याख्यान किया है, और पृथिवी से पहिले उन्होंने गन्धतन्मात्रा की उत्पत्ति मानी है। इसलिये जल के भण्डार में से इस अण्डे में, गन्धतन्मात्रा की भी उत्पत्ति हो गई। इस प्रकार इस अण्डे में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांचों तत्वों का मेल था और इन पांचों तत्वों के मेल से ही आगे चल कर लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति हुई।

ग्यारहों इन्द्रियें भी शब्दतन्मात्रा की तरह सूक्ष्म हैं। उनकी उत्पत्ति का भी यहां वर्णन नहीं है। ऋषि कपिल और मनु ने सृष्टि रचना के इस अंग का भी व्याख्यान किया है। इनकी उत्पत्ति भी उन्होंने शब्दतन्मात्रा की तरह अहंकार से मानी है। महर्षि वेदव्यास ने भी अपने सृष्टि-रचनाक्रम में जो "सृष्टि रचना प्रकार सं० ४" में है सृष्टि-रचना के इन सब अङ्गों का संग्रह किया है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये ग्यारहों इन्द्रियें भी आकाश आदि तत्वों के साथ उस महान् अण्डे में विद्यमान थीं।

तन्मात्राओं की उत्पत्ति में कुछ मतभेद है। किसी महर्षि ने इनकी उत्पत्ति सीधी अहंकार से मानी है। और किसी ने अहंकार से शब्द तन्मात्रा की, उससे आकाश की, आकाश से स्पर्शतन्मात्रा की और उससे वायु की, इस क्रम से उत्पत्ति मानी है। परन्तु यह कोई मौलिक मतभेद नहीं। सृष्टि क्रम के मुख्य नियम (सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने) का ध्यान दोनों मतों में रक्खा गया है। और अवस्थाएँ भी सभी दोनों मतों से मानी गई हैं।

सृष्टि रचना के दो भाग हैं, भूत सृष्टि और लोक सृष्टि। पाँच भूतों और इन्द्रियों की उत्पत्ति भूत सृष्टि के अन्दर आ जाती है। और पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, अन्तरिक्ष आदि लोकों की सृष्टि लोक सृष्टि है।

सृष्टि रचना का कहीं कहीं आंशिक (एक भाग का) और कहीं कहीं पूरा वर्णन मिलता है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में जल से सृष्टि-रचना का आरम्भ किया है उन्होंने प्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं के क्रम से भूतों की रचना का व्याख्यान न करते हुए, लोक सृष्टि का व्याख्यान किया है। और इसी लिये जल से आरम्भ कर अण्डे के क्रम से लोकों की रचना कही है। तैत्तिरीय उपनिषद् और वैशेषिक दर्शन में आकाश से

लेकर भूत सृष्टि का व्याख्यान किया है। प्रकृति से लेकर तन्मात्राओं तक के क्रम को उन्होंने छोड़ दिया है। महर्षि कपिल और वेदव्यास ने प्रकृति से लेकर अन्त तक भूत सृष्टि का वर्णन किया है, लोक सृष्टि को छोड़ दिया है। महर्षि मनु ने लोक सृष्टि और भूत सृष्टि दोनों का वर्णन किया है। इस प्रकार सृष्टि रचना के विषय में किसी ऋषि का पूरा और किसी का एक भाग का व्याख्यान मिलता है। परन्तु क्रम सब का एक ही है, विरोध किसी में नहीं है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न अंशों का व्याख्यान किया।

यहां इस मन्त्र में अब तक भूत सृष्टि का व्याख्यान किया गया है। अब लोक सृष्टि का व्याख्यान करते हैं।

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् , दिवञ्च पृथिवींचान्तरिक्षमथो स्वः।

भावार्थ—सब को वश में करने वाले और धारण करने वाले भगवान् ने, जगत् के लिये दिन और रात्रि का निर्माण करते हुए पहली सृष्टि की तरह, सूर्य, चन्द्रमा, दिव, पृथ्वी और स्वर् लोकों को बनाया।

तात्पर्य यह है कि अधिसंवत्सर नामक अण्डे को अपनी इच्छा शक्ति से तोड़ कर भगवान् ने उसमें से इन सब लोकों को अलग अलग कर दिया। इन लोकों में अन्तरिक्ष का भी नाम आया है। अन्तरिक्ष नाम आकाश का है और आकाश की उत्पत्ति पहिले भी बतला चुके हैं और अब भी कह रहे हैं, यह पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु यथार्थ में पुनरुक्ति नहीं है। आकाश दो हैं, एक भत आकाश और एक लोक आकाश। भूत आकाश शब्द का आधार पृथिवी और जल की तरह का, एक तत्व है और लोक आकाश खाली जगह का नाम है। पहिले कहे

गये महान् अण्डे के अन्दर, लोक लोकान्तर और खाली स्थान भी विद्यमान थे। जब इन लोकों का विभाग किया, तो उनके बीच जो खाली स्थान रहा, उसी का नाम अन्तरिक्ष लोक पड़ा। यद्यपि यह स्थान पैदा होने वाली चीज नहीं, पहिले भी विद्यमान था परन्तु यह व्यवहार में लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति के बाद आया है, इसलिये लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति के साथ ही इसका निर्देश किया गया। भगवान् ने इसीलिये यहां शब्द भी 'अकल्पयत्' दिया है। यह शब्द उत्पन्न होने वालों और बिना उत्पत्ति के ही व्यवहार में आने वालों, दोनों के साथ लग सकता है।

सृष्टि रचना के इस वैदिक प्रकार को पढ़कर, और इसके साथ ही अन्य ऋषियों के मतों को जानकर, मेरी तरह ही पाठक भी अवश्य इस निर्णय पर पहुंचेंगे कि पहिले दिखाये गये सृष्टि-रचना के नौ प्रकारों में से "व्यासशुकसंवाद" नामक चौथा प्रकार ही व्यास जी का अपना और मूल भारत का है। शेष सब प्रकार श्रुति-स्मृति विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं, पीछे के मिलाये हुए हैं।

जिस प्रक्षेप का हमने उल्लेख किया है वह महाभारत के अठारह पर्वों में से एक पर्व में और उसके भी एक प्रकरण में है। सारे महाभारत में कितनी मिलावट होगी, इसका अनुमान पाठक इसी से कर लें।

गीता भी इसी महाभारत का एक अंग है। इसलिये उसमें भी इसी प्रकार से प्रक्षेप अवश्य किया गया होगा, यह अनुमान अनायास ही किया जा सकता है। परन्तु इस अनुमान से यह निर्णय होना कठिन है कि वास्तव में गीता में प्रक्षेप है कितना। इस विषय का निर्णय करने के लिये हम पाठकों के सामने "गीता में प्रक्षेप" नामक दूसरा प्रकरण उपस्थित करते हैं।

निष्काम-कर्म का उपदेश

* ◇ *

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ॥

यजुर्वेद, अ० ४०, मं० २ ॥

भाव—कर्म करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें।

❀ ❀ ❀ ❀

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥

गीता, अ० २, श्लो० ४७ ॥

भाव—कर्म करने में ही तेरा अधिकार है—फल की आकांक्षा न कर।

❀ ❀ ❀ ❀

❀ ओ३म् ❀

गीता में प्रक्षेप

द्वितीय अध्याय

(१) गीता के दूसरे अध्याय का चौबीसवां श्लोक प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त होने में कारण है पुनरुक्ति। इस श्लोक का आवश्यक सब विषय पिछले श्लोकों में आ चुका है। श्लोक नीचे पढ़िए—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

भावार्थ—यह आत्मा काटा और जलाया नहीं जा सकता। यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर और अविकारी है ॥२४॥

आत्मा के काटने और जलाये न जा सकने का विधान तेईसवें श्लोक में आ चुका है। इसे नित्य और अविकारी इक्कीसवें श्लोक में कहा गया है। इसे नित्य और अविकारी कह देने पर स्थिर कहने की कोई आवश्यकता रह ही नहीं जाती। अतः स्पष्ट है कि आत्मा को सर्वव्यापक कहने के लिए ही इस श्लोक की रचना की गई है और यह भी गीताकार का सिद्धान्त नहीं। इससे प्रथम महाराज कह आये हैं "पुराने शरीर को छोड़ कर देहधारी अन्य नये शरीर में चला जाता है" (अ० २ श्लोक २२) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाना सर्वव्यापक का काम नहीं। वह तो पहिले से ही सर्वत्र विद्यमान है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

इस अध्याय में अड़तालीसवें श्लोक तक सांख्य का निरूपण कर उनतालीसवें श्लोक से गीताकार ने योग के वर्णन का उपक्रम किया है। गीता में योग नाम निष्काम कर्म का है। फल की कामना न करते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसे निष्काम कर्म कहते हैं। इस ध्येय को ध्यान में रखकर इस अध्याय के इकतालीसवें श्लोक से लेकर चवालीसवें श्लोक तक फल की कामना से किये हुए कर्म को बुद्धि में विक्षेप पैदा करने वाला कह कर निन्दित कहा है। और "फल की कामना से ही कर्म करना चाहिये, इसके बिना कुछ किया ही नहीं जा सकता" ऐसा कहने वाले लोगों को वेद के ज्ञानी न कह कर, 'वेदवादरत' (वेद के नाम से शोर मचाने वाले) कहा है।

(२) इस अध्याय में पैंतालीसवां और छियालीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

भाव—हे अर्जुन! वेदों में तीन गुणों का ही प्रतिपादन है। तू इन तीन गुणों से बाहर निकल, सत्व में स्थित हो, द्वन्द्व को छोड़ दे, सांसारिक व्यवहार से ऊँचा उठ और आत्मिक बल को धारण कर ॥४५॥

जब कि सब जगह ही पानी भरा हुआ हो उस समय जितना प्रयोजन छबील का हो सकता है, वैसा ही विज्ञानी का सब वेदों से प्रयोजन है ॥४६॥

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दो कारण हैं। एक यह है कि

इनका इस प्रकरण के साथ सम्बन्ध नहीं है और दूसरे ये गीताकार के मत के अनुकूल नहीं हैं।

यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। ऊपर के श्लोकों में फल की आकांक्षा से कर्म करने वाले लोगों की निन्दा की गई है और ४७वें श्लोक में निष्काम कर्म का विधान किया गया है। ऐसी अवस्था में इन बीच के दो श्लोकों में भी निष्काम कर्म के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहिए था। परन्तु इन में स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है और उनके विषय उपेक्षा का भाव प्रकट किया गया है। इसलिये प्रकरण के साथ सम्बन्ध न होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये श्लोक गीताकार के मत के अनुकूल भी नहीं हैं। त्रैगुण्य से ऊँचा उठे हुए अधिकारी के लिए भी कृष्ण भगवान् ने वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक बतलाया है। अपने ही विषय में उन्होंने कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ अ० ३ श्लो० २२ ॥

हे अर्जुन! तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह गया और न कोई वस्तु ही ऐसी है जिसकी प्राप्ति की मुझे इच्छा हो, परन्तु फिर भी कर्म करता हूँ।

इसी प्रकार तीसरे और अठारहवें अध्याय में भी यज्ञ आदि सब कर्मों का विधान किया है। परन्तु यहां कर्मों का विधान करने वाले वेद को ही छोड़ देने की अनुमति दी गई है।

इन श्लोकों में यह भी कहा गया है कि वेदों में तीन गुणों का ही विधान है और विज्ञानी को वेदों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु ये विचार भी गीताकार के मत के विरुद्ध हैं।

गीताकार ने वेदों में तीन गुणों का ही नहीं, परमेश्वर का भी

वर्णन माना है। यह जानने के लिये गीता के आठवें अध्याय का ग्यारहवां श्लोक पढ़िये—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ अ० ८ श्लो० ११॥

वेद के ज्ञाता लोग जिस अविनाशी ब्रह्म का व्याख्यान करते हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह पद संक्षेप से कहता हूँ।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि वेद के जानने वाले ही ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं इसलिए गीताकार वेद में ब्रह्म का पूर्ण वर्णन मानते हैं। गीताकार यह भी नहीं मानते कि विज्ञानी के लिये वेदों की आवश्यकता नहीं है। चौदहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक गीता में विज्ञान का वर्णन किया गया है। और वह विज्ञान है सत्व आदि गुणों और आत्मा का विवेक। परन्तु इस विज्ञान के बाद भी इस वर्णन के अन्त में उन्होंने ईश्वर की शरण में जाने की आवश्यकता बतलाई है। और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है वेदों से, इसलिये विज्ञानी के लिये भी गीता के मत में वेदों की आवश्यकता है। इसलिये गीता के मत से विरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(३) द्वितीय अध्याय में साठवां और इकसठवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

भावार्थ—हे अर्जुन! बड़ा प्रयत्न करने वाले विद्वान् पुरुष के मन को भी प्रबल इन्द्रियां बल से खींच ले जाती हैं। इन सब को रोक कर योगी पुरुष मुझे इष्ट मान लें। इन्द्रियें जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है॥६०—६१॥

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दो कारण हैं। एक यह कि यहां इन श्लोकों का प्रसंग नहीं था। इनसे पहले श्लोक में कहा गया है कि "भोजन छोड़ देने पर पुरुष का विषयों से तो सम्बन्ध टूट जाता है, परन्तु उनकी चाह नहीं छूटती। और भगवन् के दर्शन होने पर वह चाह भी निवृत्त हो जाती है" गी. २. ४९)।

आगे चल कर बासठवें श्लोक से लेकर पैंसठवें श्लोक तक "यह विषयों की चाह कैसे उत्पन्न होती है, बुद्धि का यह किस प्रकार नाश कर देती है, भगवान् की प्राप्ति से पहिले इसकी निवृत्ति का क्या उपाय है और इसके निवृत्ति होने पर बुद्धि किस प्रकार स्थिर हो जाती है", इन प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ५९, ६२, ६३, ६४, ६५ श्लोकों में विषयों की चाह से बुद्धि की चञ्चलता, और चाह की निवृत्ति से बुद्धि की स्थिति का वर्णन है। फिर इस प्रसंग के बीच में ही साठवें और इकसठवें श्लोक में बुद्धि की स्थिति के दूसरे उपाय "इन्द्रियों के निरोध" का वर्णन कैसे संगत माना जा सकता है, जब कि उस चाह के स्वरूप और उसी चाह की उत्पत्ति का वर्णन बासठवें श्लोक से आरम्भ होता है और उसे बुद्धि के नाश का कारण बतलाते हुए, चौंसठवें श्लोक से बुद्धि की स्थिति का उपाय बतलाना आरम्भ किया गया है। एक प्रसंग के बीच में दूसरा प्रसंग प्रक्षिप्त ही कहा जा सकता है।

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दूसरा कारण है पुनरुक्ति। "इन्द्रियों का निरोध बुद्धि की स्थिति में कारण है" यह प्रसंग

अठावनवें श्लोक में पहिले आ चुका है। श्लोक नीच पढ़िये—

यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

भावार्थ—जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है (गी० २. ५८.) यह प्रक्षेप "मत्परः" (कृष्ण भगवान् के आधीन हो) यह विचार प्रकट कर, योगिराज को ईश्वर बनाने के लिये किया गया होगा।

(४) इसी अध्याय में निम्नलिखित ६७, ६८ और ६९ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

भावार्थ—इन्द्रियों के पीछे-पीछे बाहर जाने वाला मन, मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार विचलित कर देता है, जैसे पानी में वायु नाव को ॥६७॥ इसलिए हे अर्जुन! जिसकी इन्द्रियें सब ओर से विषयों से हटी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥६७॥ जो सब प्राणियों की रात है, संयमी पुरुष उसमें जागता है और जब सब प्राणी जागते हैं, वह ज्ञानी मुनि की रात है ॥६९॥ पहिले दो श्लोकों में फिर इन्द्रियों के निरोध को बुद्धि के स्थिर करने में कारण बतलाया गया है। हम पहिले लिख आये हैं कि यह विचार पहिले अठावनवें श्लोक में प्रकट किया जा चुका है, अतः

इसका यहां फिर प्रकट करना पुनरुक्ति है। इसलिये ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

इन तीनों ही श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में एक यह कारण है कि इनका प्रसङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं है। इन श्लोकों से पहले छियासठवें श्लोक में कहा गया है—जो कर्मयोगी नहीं है उसे समबुद्धि और समभावना प्राप्त नहीं हो सकती और समभावना के बिना शान्ति नहीं मिल सकती और शान्ति के बिना सुख कहां से आया? इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति के लाभ का साधन बतलाया गया है।

आगे चलकर सत्तरवें श्लोक में कहा गया है "स्थिर और भरे हुए समुद्र में जिस प्रकार जल प्रविष्ट होते हैं, उसी प्रकार सब कामनाएँ जिस में प्रविष्ट हो जाती हैं वह शान्ति का लाभ करता है, कामनाओं की चाह वाला नहीं" (अ० २ श्लो० ७०) इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। छियासठवें श्लोक में शान्ति की अप्राप्ति के कारण का, और सत्तरवें श्लोक में शान्ति की प्राप्ति के कारण का वर्णन है इसलिये ये दोनों श्लोक एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इन दोनों के बीच में किसी अन्य प्रसङ्ग के उल्लेख को प्रक्षिप्त मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है। यह प्रसङ्ग यहां किसीने क्यों डाल दिया यह समझ में नहीं आया।

गीता में प्रक्षेप

तृतीय अध्याय

(१) तीसरे अध्याय में ३०।३१।३२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ये श्लोक २६ वें और ३३वें श्लोक के आवश्यक सम्बन्ध को भङ्ग कर देते हैं, और इनना यहां कोई प्रसङ्ग भी नहीं है। २६ वां और ३३वां श्लोक ध्यान से पढ़िये—

प्रकृतेर्गुणसंमूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२६॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

स्वभाव के गुणों से मोहित हुए लोग तामस राजस आदि कर्मों में लगते है। ज्ञानी मनुष्य उन संसारी मनुष्यों को कर्म से विचलित न करे ॥२६॥ ज्ञानी मनुष्य भी तो अपने स्वभाव के अनुसार ही चेष्टा करता है। अपने स्वभाव के अनुसार ही प्राणी चलेंगे। दमन उनके स्वभाव को नहीं बदल सकता ॥३०॥

इन श्लोकों को पढ़ कर पाठक समझ गये होंगे कि इन दोनों के विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके बीच में और किसी श्लोक के लिये स्थान नहीं है।

इस प्रसंग में स्वभाव के अनुसार कर्म करने का विधान है। परन्तु बीच के श्लोकों में कहा गया है, 'मेरे अर्पण करते हुए सब कर्म करो'' जो ऐसा करेगा वह श्रेष्ठ और जो ऐसा न करेगा वह निन्दित है। इन दो श्लोकों के बीच में यह प्रसंग खटकता है, इस लिए ये तीनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। योगीराज कृष्ण को परमात्मा बनाने की भावना से प्रेरित हो कर ये श्लोक लिखे गए हैं।

गीता में प्रक्षेप

चतुर्थ अध्याय

(१) चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से लेकर २५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। दूसरे अध्याय के अड़तीसवें श्लोक से लेकर कर्मयोग का प्रकरण चला है और छठे अध्याय के चौथे श्लोक तक चला गया है। चतुर्थ अध्याय का प्रथम श्लोक यह है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ अ०.४ श्लोक १॥

इस अविकारी योग को मैंने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा था। आगे चलकर कहा है—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥३॥

भाव—वह ही यह पुराना योग मैंने तुझे आज कहा है। इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि कर्मयोग का प्रकरण समाप्त हो चुका, परन्तु कर्मयोग का प्रसङ्ग अभी समाप्त नहीं हुआ। दूर तक चला गया है। बीच में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया था कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों कर बैठता है? उसका उत्तर देकर चतुर्थ अध्याय के सोलहवें श्लोक में उसी प्रकरण को फिर आरम्भ कर दिया गया है। लिखा है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

भाव—क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रांति हो जाती है। मैं तुझे वह कर्म बतलाऊंगा

जिसे जानकर अमङ्गल से छूट जावेगा। इस प्रकार यह प्रकरण निरन्तर चल रहा है। इसके बीच में उसकी समाप्ति की सूचना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यहां के नहीं हैं। यदि ग्रन्थकार के ये श्लोक होते तो वह इन्हें इस प्रकरण के अन्त में लिखता।

आगे चलकर चौथे श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि आपके और विवस्वान् के काल में तो बड़ा अन्तर है फिर आपने विवस्वान् को यह योग कैसे बतलाया ?

इस प्रश्न का उत्तर आठवें श्लोक की समाप्ति तक दिया गया है। आठवें श्लोक का उत्तरार्ध है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

भाव—मैं धर्म की स्थापना के लिये युग युग में आता हूं। पर यहां पर ही प्रक्षेपक महोदय ने बस नहीं कर दी। आगे चलकर आपने कृष्ण भगवान् की उपासना और उसके फल बतलाने आरम्भ कर दिये हैं। इससे भी आगे चलकर आपने गुण कर्मानुसार चारों वर्णों की सृष्टि कृष्ण भगवान् से कराई है। इस प्रकार इस प्रकरण को अजायबघर बनाने के बाद अपने अगले प्रसङ्ग से मिलाने के लिये दो श्लोक रचे हैं। वे ये हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स लिप्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

भाव—मुझे कर्म फलों की अभिलाषा नहीं। मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस ढंग से जो मुझे जानता है वह भी कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥१४॥ यह जानकर ही प्राचीन काल के मुमुक्षु लोग कर्म

करते रहे हैं। तू भी कर्म कर, क्योंकि पूर्व पुरुष करते रहे हैं ॥१५॥ इस प्रकार इन श्लोकों द्वारा आपने अपनी कृति को प्रकरण से मिलाने का यत्न किया है। यों तो आपकी यह कृति भी दोष से बच न सकी। भला अर्जुन और अर्जुन के समकालीन ऋषि लोग तो यह जान भी सकते हैं कि कृष्ण को कर्मफलों की आकांक्षा नहीं, और वह कर्मों से लिप्त नहीं होते और यह जानकर वे कर्म करने के लिये अग्रसर भी हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण भगवान् के जन्म से पूर्वकालीन मुमुक्षुओं को यह ज्ञान कैसे हुआ होगा ! और उन्होंने यह जानकर कर्म कैसे किये होंगे ? यह कहा जा सकता है कि उन्होंने योग दृष्टि से यह जान लिया होगा। परन्तु योगदृष्टि तो कर्म करने के बाद मिलेगी, न कि कर्म के आरम्भ में। अस्तु, अब हम इस विषय की अधिक विवेचना नहीं करना चाहते, इतना ही लेख इन श्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।

(:) इसी अध्याय का चौबीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। इस श्लोक से पहिले महाराज ने बतलाया है कि मनुष्य प्रथम तो निष्काम भावना से कर्म करे, और यदि ऐसा न भी हो सके तो, यज्ञ के लिये (लोक हित की भावना से) कर्म करे। ऐसा करने से उसके कर्म होते हुये भी नहीं के बराबर होते हैं, और उसे बन्धन में डालने का कारण नहीं बनते। और इस श्लोक से आगे चलकर विभिन्न यज्ञों का व्याख्यान करते हुए ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। इन दोनों प्रसङ्गों के बीच में यह बिना प्रसङ्ग के ही विचित्र ढंग का श्लोक किसी अद्वैतवादी महानुभाव के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया प्रतीत होता है। श्लोक पढ़िये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

भावार्थ—ब्रह्मरूप कर्म समाधि (कर्मयोग) करने वाला, ब्रह्म

को ही प्राप्त होता है। उसकी हवि ब्रह्म के ही अर्पण है। ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्म के ही द्वारा डाली गई है ॥२४॥ पहिले प्रसङ्ग के अनुसार यह बतलाना चाहिये था कि कर्म अकर्म किस प्रकार हो जाता है। परन्तु इस श्लोक में किसी विशेष प्रकार का यज्ञ करने वाले कर्मठ के लिये ब्रह्मप्राप्ति रूप फल का विधान किया गया है।

आगे आने वाले प्रसङ्ग के साथ भी इस श्लोक का मेल प्रतीत नहीं होता। इस प्रसङ्ग में विभिन्न यज्ञों का वर्णन किया गया है; और यह श्लोक फल का प्रतिपादक होने से कर्म का विधान करने वाला माना नहीं जा सकता। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जावे कि इसमें फल विधान गौण है, और कर्म का विधान मुख्य है, इसलिये यह वाक्य कर्म का ही विधान करने वाला है, सो भी ठीक नहीं। ऐसा मानने से पुनरुक्ति होती है क्योंकि पचीसवें श्लोक में ब्रह्मार्पण यज्ञ का विधान महाराज ने आगे चल कर किया है।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

भावार्थ—कोई महानुभाव ब्रह्मरूप अग्नि में अपने कर्मरूप यज्ञ का कर्म के द्वारा ही हवन करते हैं ॥२५॥ उपर्युक्त लेख से पाठक समझ गये होंगे कि इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।

इसी अध्याय के ३४, ३५, ३६, और ३७ चार श्लोक और प्रक्षिप्त हैं। तेंतीसवें श्लोक में द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ बतलाया गया है। और ज्ञान को ही सब कर्मों की सम्पूर्णता का साधन बतलाया गया है। इस प्रकरण का ज्ञान वेद का ज्ञान अथवा धर्मशास्त्रों का ज्ञान नहीं है। यहां निश्चय रूप बुद्धि का नाम ज्ञान है। हमारे इस कथन में इसी अध्याय का इकतालीसवां श्लोक प्रमाण है। श्लोक नीचे पढ़िये—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

भावार्थ—जिसने कर्मयोग की रीति से कर्म का त्याग किया, ज्ञान से संशय को दूर किया, ऐसे आत्मधनी मनुष्य को, अर्जुन! कर्म बांधते नहीं ॥४१॥

इस श्लोक में संशय को दूर करने वाली वस्तु का नाम ज्ञान है, और वह वस्तु है निश्चयाकार बुद्धि। इस बुद्धि की प्राप्ति के उपाय महाराज ने अड़तीसवें और उनतालीसवें श्लोक में बतलाये है। श्रद्धा, कर्म में तत्परता, इन्द्रियों का संयम और कर्मयोगका साधन ही इसकी प्राप्ति के उपाय बतलाये गये है यह ठीक भी है, क्योंकि जब तक श्रद्धा और तत्परता से इन्द्रियों को रोक कर कर्म के साधन में नहीं लग जाता तब तक बुद्धि की स्थिरता असम्भव है। और यह स्थिरता ही निश्चय है। इस प्रकरण का ज्ञान क्या है, यह पाठक जान चुके होंगे। अब इन प्रक्षिप्त श्लोकों का ज्ञान भी पढ़िये—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

भावार्थ—नम्रता, पूछताछ और सेवा के उस ज्ञान को जान। तत्ववेत्ता ज्ञानी लोग तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। उसी ज्ञान से सब भूतों को मेरे और अपने अन्दर देखोगे। उस ज्ञान के मिलने पर फिर ऐसा मोह तुझे न होगा ॥३४॥ ॥३५

आगे चलकर महाराज ने निश्चयाकार बुद्धि का नाम ज्ञान कहा। महाराज का तात्पर्य यह था कि वर्तमान संशय को दूर कर

शीघ्र अपने कर्तव्य का निर्णय कर लो। परन्तु इन श्लोकों में आत्मा में सब प्राणियों के दर्शन रूप तत्वज्ञान को ज्ञान कहा है।

इन श्लोकों में कहा गया है कि उस ज्ञान का उपदेश तत्ववेत्ता लोगों से ग्रहण करो, परन्तु आगे चल कर ३८ वें श्लोक में महाराज ने कहा है कि कर्मयोग के साधन से वह निर्णय रूप ज्ञान काल पाकर स्वयं ही आत्मा में चमक उठता है। अतः इस पूर्वापर विरोध के कारण इन श्लोकों को प्रक्षिप्त ही मानना पड़ता है।

इन श्लोकों को गीता का अंग ही मान लिया जावे तो क्रम भी ठीक नहीं बैठता। निबन्ध की रीति के अनुसार, पहिले ज्ञान, फिर ज्ञान की प्रशंसा, फिर उसकी प्राप्ति के उपाय और फिर उसका फल लिखा जाना चाहिए। इन प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाल दिया जावे तो यहां ठीक है भी ऐसा ही क्रम। ३३ वें श्लोक में ज्ञान यज्ञ का प्रवचन, ३३ वें के उत्तरार्ध और ३८ वें के पूर्वार्ध में उस की प्रशंसा, ३६ वें में उसका फल और ४० वें में उसकी अप्राप्ति से हानि बतलाई गई है। इस प्रकार इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मान लेने पर क्रम ठीक बैठ जाता है। और यदि इन्हें प्रक्षिप्त न माना जावे तो क्रम ठीक बैठता नहीं। ३४ वें श्लोक में साधन बताने आरम्भ किये गये हैं, और फिर आगे के तीन श्लोकों में दूसरा ही विषय छेड़ दिया गया है। इसके बाद ३८ वें श्लोक में फिर साधन बतलाने आरम्भ कर दिये गये हैं।

३६ वें श्लोक में पाप की नाशक वस्तु का नाम, और ३७ वें श्लोक में कर्मों की नाशक वस्तु का नाम ज्ञान कहा गया है। परन्तु पूर्व दिखलाये गये ४१ वें श्लोक के अनुसार इस प्रकरण का ज्ञान संशय का नाशक ज्ञान है इसलिए ये दोनों श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं।

—:०:—

गीता में प्रक्षेप

पंचम अध्याय

(१) पांचवें अध्याय में १३ वें श्लोक से लेकर अन्त तक सब प्रक्षिप्त हैं।

यहां कर्म फल के संन्यास का प्रकरण चला हुआ है। बीच में इन श्लोकों के आ जाने से प्रकरण टूट जाता है। बारहवां श्लोक यह है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

भाव—कर्म में लगा हुआ कर्मफल को छोड़ कर स्थिर शान्ति को प्राप्त करता है। और कर्मों का त्याग करने वाला कामना के वश में होकर बन्धन में पड़ जाता है।

इन प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ कर आगे छठे अध्याय का पहिला श्लोक पढ़िये—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः ॥अ०६श्लो०१॥

भाव—जो कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्त्तव्य-कर्म को करता है वह संन्यासी है और योगी है। जिसने अग्न्याधान नहीं किया, अथवा कर्म छोड़ दिये वह नहीं ॥ अ० ६ श्लो० १॥

इन दोनों ही श्लोकों में कर्म-फल के त्याग का विधान है। इस लिये ये दोनों श्लोक एक प्रकरण के हैं। परन्तु बीच के श्लोकों में यह विषय नहीं है इसलिये विवश उन्हें प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त कई दोष और भी हैं। कर्म-फल को त्याग

कर कर्म करना ही गीताकार ने योग कहा है। और योगी ही नहीं संन्यासी के लिये भी कर्म का त्याग गीताकार ने अच्छा नहीं समझा, जैसा कि पाठक ऊपर छठे अध्याय के पहिले श्लोक में पढ़ आये हैं। पाँचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में कर्म-संन्यास से कर्मयोग को ही उत्तम कहा गया है। और पांचवें श्लोक में तो यहां तक कह दिया गया है कि संन्यास और योग एक ही चीज हैं, अर्थात् कर्म फल का त्याग ही कर्म का त्याग है: कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं। छठे अध्याय के पहिले श्लोक में तो कर्म छोड़ने वाले को संन्यासी कहने से ही इन्कार कर दिया है। अठाहरवें अध्याय में कृष्ण भगवान् ने फिर इसी विषय को स्पष्ट किया है वहां लिखा है—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति म पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥अ०१८श्लो०६॥

भाव—हे अर्जुन ! इन यज्ञ आदि कर्मों को भी सङ्ग और फल को छोड़कर करना चाहिये, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि कर्म का त्याग गीताकार की रीति नहीं है। अब आप प्रक्षेपक महोदय की करतूतें देखिये। आप लिखते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥अ०५श्लो०१३॥

भाव—संयमी देहधारी नौ दर्वाजों के नगर में सब कर्मों को मन से त्याग कर न करता हुआ और न कराता हुआ सुख से रहता है।

यहां आपने कर्म के त्याग का विधान कर दिया है जो कि गीताकार की नीति के सर्वथा विरुद्ध है।

आगे चलकर चौदहवें श्लोक में आप लिखते हैं—परमात्मा

न कर्म की उत्पत्ति करता है और न किसी को कर्त्ता बनाता है। यहां तक तो ठीक है। क्योंकि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है वह स्वयं ही कर्म करता है और कर्त्ता बनता है। परन्तु इस श्लोक के उत्तरार्ध में आप लिखते हैं कि कर्म फल के साथ सम्बन्ध भी परमात्मा नहीं जोड़ता, यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है।

वेद और सभी आस्तिक दर्शन कर्मफल का प्रदाता परमेश्वर को मानते हैं। स्वभाव से कर्मफल का मिलना नास्तिक दर्शनों में तो माना गया है, आस्तिक इसे कोई भी नहीं मानता। और फिर कर्मफल और कर्म को भी भगवान् के हाथ में सौंपने वाला परम आस्तिक गीताकार इस मत को कैसे मानेगा, यह समझ में नहीं आता। फलतः ये श्लोक गीताकार के हैं ही नहीं, यह सब प्रक्षेपक महोदय की विचित्र लीला है।

ज्ञान से अज्ञान का नाश, समता का भाव, ध्यान योग से ब्रह्म की प्राप्ति, विषय वासना का त्याग, काम और क्रोध का त्याग जीव की ब्रह्मरूपता और कृष्ण के ज्ञान से शान्ति का लाभ आदि अन्य विषय भी इन प्रक्षिप्त श्लोकों में हैं।

यह स्पष्ट है कि इन विषयों का इस प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये प्रक्षिप्त हैं। ये विषय गीता में अन्यत्र भी आ गये हैं। ध्यानयोग से ब्रह्म की प्राप्ति छठे अध्याय में ध्यानयोग के प्रकरण में दिखलाई गई है। समत्व योग छठे अध्याय में पाँचवें श्लोक से लेकर विस्तार से स्पष्ट किया गया है। इसी अध्याय में अन्यत्र काम और द्वेष का कर्मयोगी के लिये निषेध किया गया है। इस प्रकार जब ये विषय अन्यत्र आ ही गये हैं तो यहां बिना प्रकरण इनके लिखने को क्या आवश्यकता थी ? यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कर्मत्याग और जीव की ब्रह्मरूपता के भाव गीता में प्रविष्ट करने के लिये यह प्रक्षेप किया गया।

गीता में प्रक्षेप

षष्ठ अध्याय

(१) छठे अध्याय के चौदहवें से लेकर तेईसवें तक दस श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रक्षेप में भी प्रसङ्ग का भङ्ग ही कारण है। दशवें श्लोक से लेकर तेरहवें श्लोक तक महाराज ने ध्यानयोग की विधि बतलाई है, और आगे चलकर इन प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर चौबीसवें, पच्चीसवें और छब्बीसवें श्लोक में भी इसी विधि का विधान है। आगे चलकर अठाईसवें और उनतीसवें श्लोक में महाराज ने इस ध्यानयोग के दो फल बतलाये हैं, ब्रह्मप्राप्ति और साम्यबुद्धि की सिद्धि। अब इन प्रक्षिप्त श्लोकों के विषय भी सुनिये।

चौदहवें श्लोक में इस अपने प्रसंग को ऊपर के प्रसंग से मिलाने के लिये प्रक्षेप करने वाले महानुभाव ने भी ध्यानयोग की विधि ही बतलाई है। पन्द्रहवें श्लोक में ध्यानयोग का फल बतलाया गया है। सोलहवें श्लोक से लेकर उन्नीसवें श्लोक तक ध्यानयोग के अधिकारी का वर्णन किया है। बीसवें श्लोक से लेकर तेईसवें श्लोक तक योग का लक्षण किया गया है।

अब पाठक विचार करें कि प्रक्षिप्त श्लोकों के ये सब प्रसंग क्या यहां सङ्गत प्रतीत होते हैं। महाराज यदि ध्यान योग के लक्षण और उसके अधिकारी का निरूपण करना चाहते तो ध्यान योग की विधि आरम्भ करने से पहले करते। यहां विधि के क्रम का भङ्ग कर बीच में ही इस प्रसङ्ग का उल्लेख किसी प्रकार भी सङ्गत

कहा नहीं जा सकता। पन्द्रहवें श्लोक में बतलाया गया ध्यानयोग का फल भी यहां विधि के बीच में बिना प्रसङ्ग के अयुक्त है। ध्यान योग का यह ही फल महाराज ने आगे चलकर विधि का प्रसङ्ग समाप्त हो जाने के बाद अठाईसवें श्लोक में बतलाया है इसलिये यह फल का वर्णन पुनरुक्त भी है। इस प्रकार विवेचना की दृष्टि से देखने के बाद विवश यह ही कहना पड़ता है कि ये सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यहां ध्यानयोग के प्रसंग में भी कृष्ण भगवान् को ध्येय (परमात्मा) बनाने के लिये और इस प्रसंग को कुछ विस्तार देने के लिये ही यह प्रक्षेप किया गया प्रतीत होता है।

इसी अध्याय का सत्ताईसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। इस श्लोक में ध्यानयोग का फल, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति बतलाया गया है। और अठाईसवें श्लोक में भी इसी फल का वर्णन किया गया है, इसलिये पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। आनन्द को ब्रह्मरूप सिद्ध करने के लिये ही किसी ने इस श्लोक का प्रक्षेप किया प्रतीत होता है। क्योंकि अठाईसवें श्लोक में आनन्द को ब्रह्म सम्बन्धी (ब्रह्म का धर्म) कहा है।

इसी अध्याय में तीसवां और इकतीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ऊपर से समत्व योग का वर्णन चला आ रहा है और आगे चल कर बत्तीसवें श्लोक में भी यह ही विषय है, इन दोनों श्लोकों को मिलाकर पाठक पढ़ें—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं; स योगी परमो मतः ॥३२॥

भाव—सर्वत्र समभाव से देखने वाला योग से युक्त आत्मा

अपने आपको सब प्राणियों में, और सब प्राणियों को अपने अन्दर देखता है ॥२६॥

आगे इसे ही स्पष्ट किया है—

दूसरे के सुख को अपने सुख के समान और दूसरे के दुःख को अपने दुःख के समान सर्वत्र जो देखता है, वह परम योगी है ॥३२॥

अब बीच में एक प्रक्षिप्त श्लोक का भी नमूना देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

भाव—जो मुझ में सबको और सब में मुझे देखता है उसका और मेरा सम्बन्ध नष्ट नहीं होता। अब पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि "योगिराज कृष्ण को व्यापक देखने वाला उसके सम्बन्ध से दूर नहीं होता" यह भाव वहां समत्व योग के बीच में बिना प्रकरण कहां से आ गया ?

(४) इस अध्याय का सैंतालीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। छठे अध्याय में महाराज ने, ध्यानयोग के द्वारा, इन्द्रियों और मन के निरोध से, आनन्द की प्राप्ति और साम्य बुद्धि की सिद्धि, दो लाभ बतलाये थे। इसके बाद ध्यानयोग से ही, भगवान् की भक्ति के द्वारा, परम पुरुष की प्राप्ति का उपदेश करना था। परन्तु बीच में ही अर्जुन ने अपूर्ण ध्यानयोगी की गति के विषय में प्रश्न कर दिया। महाराज ने इस प्रश्न का उत्तर देने के बाद छठे अध्याय के छियालीसवें श्लोक में कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुये नीचे लिखे श्लोक में उसी विषय को फिर आरम्भ कर दिया है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ अ० ८ श्लो० ८॥

भावार्थ—अर्जुन ! ध्यान योग के द्वारा अन्य वस्तुओं से रोके हुए चित से परमात्मा का चिन्तन करता हुआ मनुष्य, परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है ॥ अ० ८ श्लो० ८॥ यह आठवें अध्याय का आठवां श्लोक है। इसके आगे भी आठवें अध्याय के बाईसवें श्लोक तक यह ही प्रसङ्ग चला गया है। अब आप इस प्रक्षिप्त श्लोक को भी पढ़िये—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तमो मतः ॥४७॥

भावार्थ—सब योगियों में उत्तम वह योगी है, जो मेरे अन्दर ध्यान लगाकर मेरी ही भक्ति करता है ॥४७॥

आठवें अध्याय के पांच श्लोकों में महाराज ने दिव्य परम पुरुष भगवान् की भक्ति का ध्यानयोगी को उपदेश दिया है। और यहां अपनी भक्ति का उपदेश उसे ही दे रहे हैं। यहां कृष्ण भगवान् को परमात्मा मान लें तो यह उपदेश पुनरुक्त हो जाता है। और यदि परमात्मा न मानें तो अपने आपको भगवान् से भी बड़ा महात्मा कृष्ण कह नहीं सकते। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह श्लोक महाराज का अपना नहीं, प्रक्षेपक महोदय का है। भक्ति योग का प्रसङ्ग आगे चलकर आरम्भ किया गया है, इस बात को ध्यान में रखकर महात्मा कृष्ण को परमात्मा बनाने के अभिलाषी प्रक्षेपक ने कृष्ण भगवान् की भक्ति का राग पहिले से ही अलापना आरम्भ कर दिया है, जिससे कि उनका यह प्रसङ्ग भी अगले प्रसंङ्ग का अङ्ग समझा जा सके।

गीता में प्रक्षेप

सप्तम अध्याय

सातवा अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के पहिले सात श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ध्यानयोग का प्रकरण अभी समाप्त नहीं हुआ। आठवें अध्याय के आठवें श्लोक से लेकर बाईसवें श्लोक तक भक्ति-गर्भित ध्यानयोग से परम पुरुष की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। छठे अध्याय के अन्त में भी ध्यानयोग का प्रकरण था, और आठवें अध्याय के आठवें श्लोक में भी यह ही प्रकरण है। इस प्रकरण के बीच में आया हुआ सातवां अध्याय और आठवें अध्याय के सात श्लोक इस प्रसंग का भंग कर देते है, अतः प्रक्षिप्त हैं।

सातवें अध्याय के प्रक्षिप्त होने में एक और भी प्रबल युक्ति है। उसे जानने के लिये पाठक पहिले सातवें अध्याय का दूसरा श्लोक पढ़ें—

ज्ञानन्तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥७॥२॥

अब मैं तुझे ज्ञान और विज्ञान का उपदेश करता हूँ जिसे जानकर फिर और कुछ जानना शेष न रहेगा ॥७॥२॥

इस श्लोक में ज्ञान और विज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु इस सारे ही अध्याय में ज्ञान और विज्ञान का वर्णन किया नहीं गया। गीता में सदाचार और संयम के कुछ

निश्चित नियमों का नाम ज्ञान है। और उसका वर्णन तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक किया गया है। वहां उपसंहार में लिखा है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥११॥

भावार्थ— यह ज्ञान कहा गया है, और इससे विपरीत का नाम अज्ञान है ॥१३॥११॥

पाठक ध्यान से पढ़ेंगे तो उन नियमों की चर्चा इस अध्याय में कहीं भी न मिलेगी। विज्ञान का निरूपण गीता में चौदहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय के अन्त तक किया गया है। विज्ञान के निरूपण में कई प्रकरण हैं। साधारण दृष्टि से उन सब प्रकरणों में सत्व, रज तम इन तीन गुणों के कार्यों, तथा अन्तः-करण पर उनके प्रभाव की व्याख्या की गई है। इस गुण विवेक का भी निरूपण प्रधान रूप से इस अध्याय में नहीं है। इस अध्याय में कृष्ण भगवान् की भक्ति, उनकी सर्वव्यापकता, उनकी भक्ति करने से लाभ और न करने से हानि, कहीं-कहीं गौण रूप से सत्व आदि गुणों का भी उल्लेख, केवल इन्हीं विषयों का वर्णन है। ज्ञान और विज्ञान का वर्णन इस अध्याय में आ भी नहीं सकता था क्योंकि यह प्रतिज्ञा कृष्ण भगवान् की नहीं थी, प्रक्षेपक महोदय की थी। कृष्ण भगवान् ने यह प्रतिज्ञा नवें अध्याय के आरम्भ में की है। पाठक उसे भी पढ़ें—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥९॥१॥

भाव—श्रद्धालु अर्जुन तुझे यह छिपा तत्व, ज्ञान और विज्ञान बतलाता हूँ जिसे जान कर अमंगल से बच जावेगा।

अब पाठक समझ गये होंगे कि यदि सातवें अध्याय वाली

प्रतिज्ञा योगिराज कृष्ण की होती तो नवें अध्याय के आरम्भ में यह प्रतिज्ञा फिर क्यों करते।

प्रक्षेपक महोदय ने वह चाल तो बहुत अच्छी चली थी, परन्तु आप चूक गये। ध्यानयोग के बाद ज्ञान विज्ञान के निरूपण का ही प्रसङ्ग है। क्योंकि ध्यानयोग का आरम्भ करते हुए छठे अध्याय के आठवें श्लोक में लिखा है कि-"जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो, ज्ञान और विज्ञान से आत्मा को तृप्त कर लिया हो, मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझने लग गया हो वह योगी योग में लगा हुआ कहा जाता है।" इस प्रकार गीताकार ने योगी के लिए ज्ञान और विज्ञान का जानना आवश्यक तो बतलाया है, परन्तु अभी तक उसका निरूपण नहीं किया था। अब उसके ही निरूपण की बारी है। बस इस संगति को देख कर प्रक्षेपक महोदय ने गीताकार के ज्ञान विज्ञान प्रकरण से पहिले अपना ज्ञान विज्ञान आरम्भ करना आवश्यक समझा ताकि आपका यह प्रक्षेप भी ज्ञान विज्ञान के प्रकरण के बीच में आ जावे। परन्तु आप से दो भूलें हो गईं। एक यह कि आपने ध्यानयोग के समाप्त होने से प्रथम ही इसे आरम्भ कर दिया। और दूसरी यह कि नवें अध्याय के प्रथम श्लोक को आपने निकाल न दिया। यदि उस श्लोक को निकाल देते या उसके बाद आरम्भ कर देते और ज्ञान विज्ञान के सम्बन्ध में अपनी प्रतिज्ञा न लिखते तो कदाचित् आप का तीर चल ही जाता। अस्तु अब पाठक समझ गए होंगे कि सातवां अध्याय प्रक्षिप्त है और आठवें अध्याय के सात श्लोक भी इन्हीं दो कारणों से प्रक्षिप्त हैं।

गीता में प्रक्षेप

अष्टम अध्याय

आठवें अध्याय के बारहवें से लेकर इक्कीसवें तक दश श्लोक प्रक्षिप्त हैं। प्रक्षेप में कारण यह है कि ये श्लोक प्रसङ्ग को तोड़ते हैं। संगति को समझने के लिये पाठक इस अध्याय का ग्यारहवां और बाईसवां श्लोक पढ़ें—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

भाव—जिस अविनाशी का वेद के जानने वाले वर्णन करते हैं और रागरहित यति लोग जिसको प्राप्त करते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को तुझे संक्षेप से बताता हूँ ॥११॥

हे अर्जुन! वह पद परम पुरुष है, और अनन्य भक्ति से मिलता है। उसी के अन्दर सब भूत हैं और उसी ने यह सब विस्तार किया है ॥२२॥

पाठक इन दोनों श्लोकों के परस्पर सन्बन्ध को देखें और इसके बाद प्रक्षेपक महोदय के दो श्लोक पढ़ें जो कि उन्होंने ग्यारहवें श्लोक के आगे लिखे हैं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

भाव—सब द्वारों को रोक कर और मन का हृदय में निरोध कर, अपने प्राणों को मस्तिष्क में ठहरा कर योग की धारणा करता हुआ ॥१२॥

ओ३म् इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, मेरा स्मरण करता हुआ, जो शरीर को छोड़ कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त करता है ॥१३॥

अब आप इन श्लोकों की भी संगति ११ वें श्लोक से मिलावें। कहिए ठीक बैठती है ?

छठे अध्याय के आठवें श्लोक से लेकर गीताकार ने ध्यानयोग की विधि विस्तार से बतलाई है और अब आठवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में ध्यानयोग से प्राप्त किये जाने वाले परमदेव परमात्मा के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। और उसी पद का स्वरूप बतलाने के लिये अर्जुन को निर्देश कर रहे हैं। परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय अब आठवें अध्याय के बारहवें श्लोक में ध्यानयोग की विधि बतलाने चले हैं। अब आप प्रक्षिप्त श्लोकों को बीच में से निकाल कर बाईसवें श्लोक के भाव को देखें। आप अनुभव करेंगे कि इस श्लोक में उसी पद को बतलाया गया है जिसे बतलाने के लिए ग्यारहवें श्लोक में कहा गया था। ध्यान देने पर यह भी पता लगेगा कि इस सारे प्रक्षिप्त भाग में योगिराज कृष्ण को परमेश्वर बनाने का भाव काम कर रहा है। और इसीलिए यह प्रक्षेप किया गया है। अस्तु अब पाठक यह निश्चय कर चुके होंगे कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अष्टम अध्याय के तेईसवें श्लोक से लेकर सताईसवें तक पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

भक्ति और ध्यानयोग के द्वारा परम पुरुष के ध्यान के ज्ञान की प्रशंसा अठाईसवें श्लोक में की गई है। श्लोक नीचे पढ़िये—

वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान करने से जो पुण्य कहा गया है, उस सबसे ध्यान और भक्ति योग के द्वारा भगवान् की उपासना के विधान को जानकर अधिक पुण्य प्राप्त कर लेता है, और सबसे श्रेष्ठ तथा आदि पद भगवान् को प्राप्त होता ॥२८॥

इन श्लोकों के बीच में आ जाने से अठाईसवें श्लोक के 'इदम्' पद का सम्बन्ध बाईसवें श्लोक से टूट जाता है, और वह प्रसंग उपसंहार के बिना ही रह जाता है। और काल विशेष में प्रयाण के वर्णन का यहां कोई प्रसंग भी न था। साम्यबुद्धि की सिद्धि के लिये ध्यानयोग का और उसी के प्रसंग से ध्यानयोग के फल का निरूपण आवश्यक था सो हो चुका। अब पूर्वोक्त ज्ञान और विज्ञान का ही निरूपण होना चाहिये। तीसरी बात यह है कि इन श्लोकों को ग्रन्थकार के मान लेने पर अठाईसवें श्लोक का सम्बन्ध इन्हीं श्लोकों से मानना पड़ जावेगा, क्योंकि दूसरे प्रकरण के आरम्भ होने से पहिला प्रकरण बाईसवें श्लोक पर ही समाप्त हो चुका। और किसी विशेष काल में प्रयाण के ज्ञान को शास्त्रीय दृष्टि से इतना महत्व दिया नहीं जा सकता कि वेद, यज्ञ तप और दान के पुण्य से भी उसका फल ऊँचा कहा जा सके, इसलिये ये सब श्लोक प्रक्षिप्त ही हैं। ग्रन्थ को विस्तृत करना ही इनके प्रक्षेप में उद्देश्य होगा।

गीता में प्रक्षेप

नवम, दशम, एकादश तथा द्वादश अध्याय

नवें अध्याय के प्रथम श्लोक को छोड़कर, नवां, दशवां, ग्यारहवां और बारहवां सभी अध्याय प्रक्षिप्त हैं। जैसे कि हम पहिले लिख आये हैं नवें अध्याय के आरम्भ में ज्ञान और विज्ञान का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की गई है, परन्तु इस अध्याय में तथा आगे के तीन अध्यायों में भी ज्ञान और विज्ञान का कहीं नाम तक भी नहीं है। नवें अध्याय में जो विषय हैं, उनकी, सूची इस प्रकार है—

१—यह सब मेरा ही किया हुआ विस्तार है।

२—सब भूत मेरे ही अन्दर हैं।

३—प्रलय में यह सब मुझ में ही लीन हो जाता है।

४—वे मूर्ख हैं जो मेरी इस महत्ता को नहीं जानते और मनुष्य समझ कर अपमान करते हैं।

५—ऋषि लोग मुझे ही भजते चले आये हैं।

६—मेरी ही भक्ति से परम गति मिलती है।

दशवें अध्याय में कृष्ण भगवान् की विभूतियों का वर्णन किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया है।

बारहवें में योगिराज कृष्ण ने यह प्रकट किया है कि जो मेरे भक्त हैं, वे ही मेरे प्यारे हैं।

इस प्रकार इन सब अध्यायों में जो विषय हैं वे ज्ञान विज्ञान नहीं हैं। और यह सब उद्योग योगिराज कृष्ण को पूर्ण रूप से परमेश्वर बनाने के लिये ही किया गया है। प्रक्षेपक महोदय ने तो ज्ञान और विज्ञान में सम्मिलित कर देने के लिये ही इन्हें यहां लिखा है परन्तु गीताकार के मत में ये ज्ञान और विज्ञान हैं नहीं। ज्ञान का व्याख्यान गीताकार ने तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक किया है। और अन्त में लिखा है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥११॥

भाव—ऊपर जो कुछ कहा यह ज्ञान और इससे विपरीत का नाम अज्ञान है। इस प्रकार संयम और त्यागपूर्वक जीवनचर्या को गीताकार ने ज्ञान कहा है। यह शंका की जा सकती है कि इस ग्यारहवें श्लोक से प्रथम वाला बारहवां, ग्यारहवां और दशवां अध्याय भी ज्ञान क्यों नहीं? पहिले होने के कारण वे भी तो 'एतत्' पद से ग्रहण किये जा सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्तमान गीता ऐसा करने से रोकती है। इसी अध्याय के अठारवें श्लोक में लिखा है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं, ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥१३॥१८॥

भाव—यह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया ॥१३॥१८॥

इस तेरहवें अध्याय में पहिले ६ श्लोकों में क्षेत्र का वर्णन किया है। सातवें श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक ज्ञान का वर्णन है। और १२वें श्लोक से १७वें श्लोक तक ज्ञेय का वर्णन किया गया है। क्षेत्र और ज्ञेय के बीच का ज्ञान यह तेरहवें अध्याय का ज्ञान ही है, १२वां, ११वां और दशवां अध्याय इसमें सम्मिलित नहीं किये जा सकते।

सत्व आदि गुण और आत्मा के विवेक ज्ञान को गीता में विज्ञान कहा गया है। विज्ञान का अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् ऊँचा ज्ञान। और इस विज्ञान का व्याख्यान गीता के चौदहवें अध्याय से आरम्भ किया गया है और गीता के अन्त में ही जाकर यह समाप्त हुआ है। चौदहवें अध्याय के आरम्भ का श्लोक पढ़िये—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४॥१॥

भाव—इस से आगे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन करते हैं जिसे जानकर सब मुनि उत्तम सिद्धि को प्राप्त हुये हैं।

इस प्रकार विज्ञान के वर्णन में भी दशवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्याय का प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये नवें अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर तेरहवें अध्याय के छठे श्लोक तक सारा प्रकरण ही प्रक्षिप्त है।



गीता में प्रक्षेप

त्रयोदश अध्याय

तेरहवें अध्याय के प्रथम से लेकर छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रक्षेप में एक कारण तो पहिले बतलाया जा चुका है कि नवें अध्याय में जिस ज्ञान का वर्णन करने के लिये कहा गया था वह वर्णन इस अध्याय के सातवें श्लोक से आरम्भ होता है। इस लिये प्रथम ६ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अब शंका यह होती है कि ये छः श्लोक ही ज्ञान क्यों न मान लिये जावें। क्योंकि यहां दूसरे श्लोक में कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥१३॥२॥

भाव—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है उसी को मैं ज्ञान मानता हूँ। इस प्रकार इस श्लोक में बताये गये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान क्यों न माना जावे?

यह ठीक है। परन्तु क्षेत्र का प्रकरण छठे श्लोक पर समाप्त हो जाता है और सातवें श्लोक से जो प्रकरण चलता है उसके अन्त में भी यह ही लिखा है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥११॥

यह जो कुछ गया है इसी का नाम ज्ञान है और जो इसके विरुद्ध है वह अज्ञान है। इस प्रकार यहां मतभेद हो जाता है। विचार उपस्थित होता है कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ज्ञान माना जावे या उसके बाद जिसका वर्णन है उसे ज्ञान माना जावे। इसका निर्णय भी वर्तमान गीता ही कर देती है।

आगे चल कर इसी अध्याय के अठारहवें श्लोक में कहा गया है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥१३॥१८॥

भाव—यह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि पहिले छः श्लोकों में क्षेत्र का वर्णन है ज्ञान का नहीं और उससे आगे के पांच श्लोकों में ज्ञान का और उससे आगे के छः श्लोकों में ज्ञेय का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का वर्णन सातवें श्लोक से आरम्भ हुआ है। नवें अध्याय में प्रथम श्लोक की प्रतिज्ञा के अनुसार अब ज्ञान का ही आरम्भ होना चाहिये। परन्तु आरम्भ कर दिया गया है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन। इसलिये इन छः श्लोकों में बिना प्रसंग के किया गया यह वर्णन प्रक्षिप्त है। ध्यान रहे कि यह प्रक्षेप भी कृष्ण भगवान् को सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ बनाने के लिये किया गया है।

इसी अध्याय में दसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। श्लोक यह है-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१३॥१०॥

भाव-घनिष्ठ सम्बन्ध से केवल मेरी ही भक्ति करना, एकान्त स्थान में लोगों के समुदाय से अलग रहना ॥१३॥१०॥

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का विषय नवें श्लोक में आ गया है। उस श्लोक का पूर्वार्द्ध पढ़िये—

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥१३॥६॥

संग से पृथक् रहना, और पुत्र, स्त्री, घर आदि से भी दूर रहना ॥१३॥६॥

इस श्लोक को पढ़कर पाठक समझ गये होंगे कि दसवें श्लोक के पिछले भाग का भाव इसमें आ गया है। इस लिये वह भाग

पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है और उसका आधा भाग प्रक्षिप्त हुआ तो सुतरां सारा श्लोक ही प्रक्षिप्त ठहर जाता है। कृष्ण भगवान् को अनन्य भक्ति का पात्र दिखलाने के लिये ही इस श्लोक का प्रक्षेप किया प्रतीत होता है।

जैसे कि पहिले ध्यानयोग के प्रकरण में ध्यान के योग्य ध्येय परमात्मा का कुछ निरूपण कर दिया गया था, इसी प्रकार यहां के ज्ञान के प्रसंग में ज्ञेय (जानने योग्य) परमात्मा का भी वर्णन कर दिया गया है। यह वर्णन इस अध्याय के सत्रहवें श्लोक में समाप्त हो गया है। इसके बाद अठारहवें श्लोक में प्रक्षेपक महोदय ने, अपने क्षेत्र के वर्णन का उपसंहार किया है। यह उपसंहार क्षेत्र का वर्णन प्रक्षिप्त होने के कारण प्रक्षिप्त ही है। अब इसके आगे संगति के अनुसार विज्ञान का वर्णन आरम्भ होना चाहिये और विज्ञान का वर्णन जैसे कि हम प्रथम लिख आये है, चौदहवें अध्याय के पहिले श्लोक से आरम्भ किया गया है। इसलिये इस अध्याय के सत्रहवें श्लोक और चौदहवें अध्याय के प्रथम श्लोक के बीच में जो कुछ लिखा गया है वह सब प्रक्षिप्त है।

इस प्रक्षिप्त प्रकरण में प्रधान रूप से प्रकृति और पुरुष का स्वरूप तथा उनके सम्बन्धों का वर्णन किया गया है और यह वर्णन प्रकारान्तर से विज्ञान के प्रकरण में भी आ गया है इसलिये पुनरुक्त होने से भी प्रक्षिप्त है। इस प्रकरण में "ब्रह्म सम्पद्यते तदा (उस समय ब्रह्म हो जाता है)" यह प्रसंग लाकर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिये प्रक्षेपक महोदय ने यह प्रक्षेप किया है।

——

गीता में प्रक्षेप

चतुर्दश अध्याय

चौदहवें अध्याय में दूसरा, तीसरा और चौथा श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यहां प्रथम श्लोक में विज्ञान का उपदेश करने के लिये कहा गया है। इस उपदेश का आरम्भ पांचवें श्लोक से हुआ है परन्तु दूसरे श्लोक में विज्ञान का वर्णन किये बिना ही उसका फल कहना आरम्भ कर दिया है। और वह फल है कृष्ण भगवान् के साथ समता की प्राप्ति। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण भगवान् का प्रसंग छेड़ने के लिये ही फल कहना आरम्भ किया गया है। हमारे इस कथन में प्रमाण हैं इस फल का वर्णन करने वाले श्लोक से आगे के दोनों प्रक्षिप्त श्लोक। पाठक उन्हें पढ़ें—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१४॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥१४॥४॥

भाव—महत् ब्रह्म मेरी योनि है। मैं उसमें गर्भ का आधान करता हूं। हे अर्जुन सब भूतों की उत्पत्ति उससे ही होती है ॥४॥ हे अर्जुन सब योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीज डालने वाला पिता हूं ॥४॥

इन श्लोकों में विज्ञान के लाभ या फल का कहीं नाम भी नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन आरम्भ कर दिया है। विज्ञान के प्रकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण

भगवान् को सब सृष्टि का बीज देने वाला प्रकट करने के लिये ही पहिले श्लोक में फल का प्रसंग छेड़ कर कृष्ण का प्रसंग छेड़ा गया था। इसलिये ये तीनों ही श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

इस अध्याय में उन्नीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। उन्नीसवें और बीसवें दोनों ही श्लोकों में गुणों से पुरुष को पृथक् जान लेने पर मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। उन दोनों ही श्लोकों को पाठकों के सुभीते के लिये हम नीचे लिखते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भवं सोऽधिगच्छति ॥१४॥१६॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४॥२०॥

भाव—जब द्रष्टा (आत्मा) गुणों को ही कर्ता समझ लेता है, और अपने आप को गुणों से पृथक् जान लेता है, तो मेरे स्वरूप को (मुक्ति को) प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

मुक्ति का यह स्वरूप ठीक है या नहीं, इसके बतलाने का यहां प्रसंग नहीं।

शरीरधारी आत्मा शरीर सम्बन्धी इन तीन गुणों से ऊंचा उठकर (अपने आपको इनसे पृथक् जानकर) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और दुःखों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥२०॥

भाव को पढ़कर पाठक यह तो समझ गये होंगे कि इन दोनों श्लोकों में एक ही विषय है। इसलिये इस भाव को प्रकट करने के लिये यहां इन दोनों की नहीं, एक ही श्लोक की आवश्यकता थी। अब विचार यह उपस्थित होता है कि इनमें से किसे गीताकार का और किसे प्रक्षिप्त माना जावे। इस प्रश्न का निर्णय हम गीता

से ही कराना चाहते हैं और उस निर्णय को जानने के लिये पाठक इससे अगले श्लोक में किया हुआ अर्जुन का प्रश्न पढ़ें—

कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथञ्चैतान् त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥१४॥२१॥

भगवान् ! किन साधनों से मनुष्य इन तीन गुणों से ऊँचा उठता है ? किस आचार वाला और कैसे इन तीन गुणों से पार होता है ? ।२१।

इस प्रकार बीसवें श्लोक के दो शब्दों और भावों को यहां आधार बनाया गया है । इसलिये बीसवां श्लोक ही गीताकार का अपना श्लोक है उन्नीसवां प्रक्षिप्त है । कृष्ण भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति बतलाना ही प्रक्षेपक का उद्देश्य है । इसी अध्याय में छब्बीसवां और सताईसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं । ये श्लोक इस अध्याय के अन्त में हैं । पचीसवें श्लोक में अर्जुन के "गुणातीत कौन है ?" प्रश्न का उत्तर समाप्त हो गया है । उपसंहार में कह दिया गया है—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥१४॥२५॥

भाव—जिसकी सब प्रवृत्तियें छूट जावें वह गुणातीत है ॥२५॥

इससे आगे छब्बीसवां और सताईसवां श्लोक पढ़िये—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।१४।२६।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।१४।२७।

जो अनन्य भक्ति से मेरा भजन करता है, वह इन गुणों से पार होकर ब्रह्म रूप को प्राप्त होता है ॥२६॥

अमर और अविकारी ब्रह्म की मुझ में ही स्थिति है । मोक्ष और अनादि धर्म की भी मुझ में ही स्थिति है ॥२७॥

अर्जुन का प्रश्न केवल यह था कि गुणातीत कौन है ? उसका उत्तर पचीसवें श्लोक में दे दिया गया है । कृष्ण की उपासना और उसमें ब्रह्म की स्थिति बतलाने का यह कोई प्रसंग न था । यहां विज्ञान का प्रसंग चला हुआ है । यदि उसी के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता तो ठीक था ।

गीता में प्रक्षेप

पंचदश अध्याय

पन्द्रहवां अध्याय सारा ही प्रक्षिप्त है। चौदहवें अध्याय के आरम्भ से विज्ञान का प्रकरण चला है। यह प्रकरण बड़ा लम्बा है। अभी यह समाप्त नहीं हुआ। अठारहवें अध्याय के त्रेसठवें श्लोक में उनकी समाप्ति हुई है। समाप्ति का श्लोक यह है—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८॥६३॥

यह गुप्त से गुप्त ज्ञान का तुम्हें उपदेश किया। इसे विचार कर जैसी इच्छा हो वैसा करो।

इस प्रकार चौदहवें अध्याय के आरम्भ से अठाहरवें अध्याय के ६३ वें श्लोक तक यह एक ही प्रकरण है। इस सारे ही प्रकरण में सत्व, रज और तम इन तीन गुणों और आत्मा का भी भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है। चौदहवें अध्याय में गुणों का और पुरुष का स्वरूप तथा उनका सम्बन्ध बतला कर उनके विवेक पर बल दिया गया है और उस विवेक का लाभ मुक्ति बतलाया गया है। सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि ये गुण मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में विभिन्न रुप से व्यापक हैं। और प्रत्येक व्यवहार की उत्तमता और अधमता इन्हीं गुणों की विशेषता के आधार पर होती है। मनुष्य के, सम्पत्ति श्रद्धा, धृति, बुद्धि कर्ता करण, आहार, व्यवहार, यज्ञ, दान, तप सारे ही गुण कर्म इन गुणों से ओतप्रोत हैं। कहीं तमोगुण का विशेष हाथ है, कहीं रजोगुण का राज्य है, और कहीं सत्वगुण का अधिक

अधिकार है। इस प्रकार इन अध्यायों में गुणों की व्यापक सत्ता को दिखला कर मोक्ष के अधिकारी को अधिक सावधान किया गया है। जैसे ध्यानयोग के बाद ध्येय परमात्मा का निरूपण किया गया था और ज्ञान का निरूपण कर ज्ञेय परमात्मा का स्वरूप दिखलाया गया था। इसी प्रकार यहां भी विज्ञान का निरूपण करने के पश्चात् अर्जुन को कहा गया है कि केवल यह विवेक ज्ञान ही अन्तिम ध्येय नहीं है। यह भी परमेश्वर के समीप पहुंचने का एक साधन है इसलिये उस जगन्नियन्ता की शरण में जाओ।

अब पाठक समझ गये होंगे कि चौदहवें से लेकर अठारहवें अध्याय तक यह एक ही प्रकरण है। इसलिये इस प्रकरण में गुणों और पुरुष के विवेचन से भिन्न दूसरा और कोई विषय न आना चाहिये।

परन्तु पन्द्रहवें अध्याय में अन्य कई विषय आ गये हैं। आरम्भ में परमात्मा और संसार का अलङ्कार रूप से वर्णन आरम्भ किया गया है। और आगे चलकर परमात्मा के स्थान पर कृष्ण भगवान् को खड़ा कर दिया गया है। अब कृष्ण भगवान् का उपदेश आरम्भ हो गया है।

"जीव मेरा ही अंश है, शरीर से जाता हुआ जीव इन्द्रियों को साथ ले जाता है, मन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता है, सूर्य चन्द्रमा और अग्नि में मेरा ही तेज है, मैं ही पृथ्वी का धारण और पोषण करता हूं, मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूं क्षर और अक्षर से परे मैं ही पुरुषोत्तम (परमात्मा) हूँ, ज्ञानी लोग मुझे ही भजते हैं।" यह सब उनके उपदेश का विषय है। अब पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि पन्द्रहवें अध्याय में दिखलाये गये इन विषयों का इस प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है। गीताकार को परमात्मा के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था वह उसने इस प्रकरण के अन्त में कहा है।

परन्तु प्रक्षेपक महोदय से न रहा गया और आपने प्रकरण के बीच में ही कृष्ण भगवान् को परमेश्वर बनाने के लिये ईश्वर का विषय छेड़ दिया। आरम्भ से लेकर अब तक आप इसी नीति पर चलते चले आ रहे हैं। पाठक कदाचित् यह शङ्का करें कि यह अध्याय विज्ञान के प्रकरण में आ गया है इसलिये इसे भी विज्ञान का अङ्ग ही क्यों न मान लिया जाये! इसके लिये मेरे दो निवेदन हैं। एक तो यह कि इस अध्याय में वह विषय नहीं है जिसे कि गीता में विज्ञान कहा गया है। और दूसरा यह कि गीताकार ने अपने विज्ञान को अठारहवें अध्याय में जाकर समाप्त किया है और पन्द्रहवें अध्याय का प्रकरण इसी अध्याय में समाप्त हो गया है। अन्तिम श्लोक पढ़िये—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥१५॥२०॥

हे निर्दोष अर्जुन! यह मैंने तुम्हें गुप्त शास्त्र का उपदेश किया। इसे जानकर तुम बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाओगे ॥१५॥२०॥

यदि यह प्रकरण भी गीताकार के विज्ञान का ही अंग होता तो इसके लिये भी गीताकार का यह आठवें अध्याय वाला उपसंहार ही पर्याप्त था। यहां इसके समाप्त करने की कोई आवश्यकता न थी। इससे प्रकट है कि यह प्रकरण प्रक्षेपक महोदय का ही शास्त्र है, कृष्ण भगवान् का नहीं।



गीता में प्रक्षेप

षोडश अध्याय

सोलहवें अध्याय में अठारहवां, उन्नीसवां और बीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस अध्याय में सत्व से गुण प्रकट होने वाली दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया गया है और उसके बाद इन श्लोकों से पहिले, तमोगुण से प्रकट होने वाली आसुरी सम्पत्ति का वर्णन चल रहा है। आसुरी सम्पत्ति वालों के जो काम, क्रोध, दर्प, अभिमान आदि दुर्गुण इस अठारहवें श्लोक में दिखलाये गये हैं, वे सब पहिले आ चुके हैं। यहां उनका फिर दिखलाना पुनरुक्ति ही है। इन लोगों के लिये फल भी पहिले सोलहवें श्लोक में "पतन्ति नरकेऽशुचौ (वे अपवित्र नरक में गिरते हैं)" यह दिखला दिया गया है। अब फिर दूसरी बार बीसवें श्लोक में उनके लिये अधम गति का दिखलाना भी पुनरुक्ति ही है। परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय के शिर पर तो यह धुन सवार है कि कृष्ण भगवान् को परमेश्वर प्रकट करने से गीता का कोई प्रकरण बचा न रहे और इसी भावना से आपने यहां आसुरी सम्पत्ति में किसी न किसी ढंग से उनका प्रकरण छेड़ ही दिया है।

गीता में प्रक्षेप

सप्तदश अध्याय

सत्रहवें अध्याय में पांचवां और छठा श्लोक प्रक्षिप्त हैं। सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन समाप्त हो गया है और इस सत्रहवें अध्याय में सत्व, रज और तमोगुण से उत्पन्न होने वाली अनेक वस्तुओं के तीन तीन भेद दिखलाये गये हैं। इन दो श्लोकों से पहिले श्रद्धा के तीन भेद दिखलाये जा चुके हैं और इनसे आगे सातवें श्लोक से आहार, यज्ञ, तप, दान आदि के तीन-तीन भेद बतलाने आरम्भ किये गये हैं। अब इस प्रकरण के बीच में ही प्रक्षेपक देवता भी आ कूदे हैं और आपने यहां फिर उसी सातवें अध्याय की आसुरी सम्पत्ति का बेसुरा राग अलापना आरंभ कर दिया है। आपके बढ़े हुए श्लोक पाठक नीचे पढ़ें—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥१६॥५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥१७॥६॥

भाव – जो दम्भी, अहंकारी, कामी और रागी लोग शास्त्रविधि के बिना भयंकर तप करते हैं ॥१७॥५॥

शरीर के भूत समुदाय को और शरीर में रहते हुए को मुझे भी कृश करते हैं। वे आसुरी निश्चय वाले हैं ॥१७॥६॥

पाठक गीता को ध्यान से पढ़ें और देखें कि इस आसुरी सम्पत्ति का यहां क्या प्रकरण था। परन्तु प्रकरण हो या न हो प्रक्षेपक महोदय के विचारों से सत्रहवां अध्याय भी बचा न रहना चाहिए था। "कृष्ण महाराज सब शरीरों में विद्यमान हैं" यह भाव आपने यहां बिना प्रकरण के भी दिखला ही दिया।

गीता में प्रक्षेप

अष्टादश अध्याय

अठारहवें अध्याय में पचास से अठावन तक नौ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकरण में स्वभाव के अनुसार कर्म करने और न करने से जो लाभ और हानियें हैं उनका निरूपण किया जा रहा है। उनचासवें श्लोक में ही यह प्रकरण समाप्त नहीं हो गया। प्रक्षिप्त श्लोकों से आगे उनसठवें और साठवें श्लोक में भी यह ही विषय है और यहां प्रकरण के बीच में ब्रह्म प्राप्ति का विषय छेड़ दिया गया है। यह प्रसंग प्रकरण का भङ्ग करता है, इसलिये प्रक्षिप्त है। इस ब्रह्म प्राप्ति का साधन इन श्लोकों में आगे चलकर ध्यानयोग बतलाया गया है और ध्यानयोग के द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का निरूपण छठे अध्याय में विस्तार से आ चुका है। इसलिये पुनरुक्ति दोष, इन श्लोकों में प्रक्षिप्त होने में दूसरा कारण है। फिर आगे चलकर कृष्ण भगवान् ने कहा है—"ब्रह्म प्राप्ति के बाद वह आनन्द में निमग्न हो जाता है, उसे कोई शोक नहीं होता, और न कोई आकांक्षा रहती है। उसके बाद वह मेरा भक्त बन जाता है, भक्ति के द्वारा मुझे जानने का यत्न करता है, और सब कर्म मेरे अर्पण करता हुआ करता है।" कितनी बेतुकी बात है! क्या ब्रह्म प्राप्ति के बाद भी कृष्ण भगवान् की भक्ति की आवश्यकता रह जाती है? इस बेढंगे लेख में गीताकार का कोई दोष नहीं; यह सब कृष्ण भगवान् के भक्त अथवा शत्रु प्रक्षेपक महोदय की लीला है।

इसी अध्याय में चौसठवें से लेकर इकहत्तर तक आठ श्लोक

प्रक्षिप्त हैं। इकसठवें और बासठवें श्लोक में कृष्ण भगवान कहते हैं—"हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में है। वह संसार के सब भूत समुदाय को अपने शक्ति रूपी यन्त्र पर चढ़ा कर घुमा रहा है। पूर्ण श्रद्धा से उसी की शरण में जाओ, उसी की कृपा से उत्कृष्ट शान्ति रूप परम धाम को प्राप्त करोगे।"

अन्त में यह उपदेश कर त्रेसठवें श्लोक में विज्ञान के प्रकरण को समाप्त कर दिया है। समाप्ति का श्लोक पढ़िये—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८॥६४॥

भाव—यह गूढ़ से गूढ़ ज्ञान मैंने तुम्हें बतला दिया। इसे विचार कर तुम जैसा चाहो वैसा करो १८॥६४॥

श्लोक का पूर्वार्ध ज्ञान के प्रकरण की समाप्ति का सूचक है और उत्तरार्ध से यह प्रतीत होता है कि अर्जुन को अब और कुछ बतलाना शेष नहीं रहा, उपदेश समाप्त हो गया। परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय का उपदेश अभी समाप्त नहीं हुआ। आप लिखते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥१८॥६४॥

(सुनो! कुछ कहना रह गया था) सब से गूढ़ मेरा परम वचन फिर सुनो ॥६४॥

यह परम वचन आगे चल कर कृष्ण भगवान् के शब्दों में आपने इस प्रकार सुनाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८॥६५॥

भाव—मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन मेरी पूजा कर और

मुझे नमस्कार कर। तू मेरा प्यारा है, मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूं ऐसा करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥६५॥

ऊपर बासठवें श्लोक में कह आये हैं कि परमेश्वर की ही शरण में जाओ, वहीं से सब कुछ मिलेगा, और यहां कह रहे हैं कि मेरी ही शरण में आ, यहीं से सब कुछ मिलेगा, यह दुरंगी क्यों? यदि कहें कि कृष्ण भगवान् भी परमेश्वर ही हैं इसलिये दोनों जगह एक ही बात है, दुरङ्गी नहीं। ठीक है। परन्तु यदि आपका ही कथन मान लिया जावे तो पुनरुक्ति हो जाती है। जिस बात को एक बार कह दिया फिर उसी को दूसरी बार कहना व्यर्थ है। आशा है अब पाठक भलीभांति समझ गये होंगे कि ये श्लोक भी गीताकार के नहीं, प्रक्षेपक महोदय के ही हैं।

इसी अध्याय में छियत्तरवां और सतत्तरवां श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ १७ । ७७

भाव—हे राजन् इस कृष्ण और अर्जुन के संवाद को याद करके मैं बार-बार प्रसन्न होता हूँ ॥ ७६ ॥ और हरि के उस रूप को याद करके मुझे बार-बार आश्चर्य होता है और प्रसन्नता होती है ॥ ७७ ॥

छियत्तरवें श्लोक में जो विषय कहा गया है, वह चौहत्तरवें श्लोक में आ गया है। अतः उसके फिर दुहराने की आवश्यकता न थी। देखिये—

सञ्जय कहता है—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ १८ । ७४ ॥

भाव—मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन के आश्चार्य से भरे हुए और रोमाञ्च को खड़ा करने वाले इस संवाद को सुना। ७४॥

रोमाञ्च खड़े होने का भाव प्रेम और हर्ष को प्रकट करने के लिये है। इस प्रकार इस संवाद के विषय में प्रसन्नता और आश्चर्य दोनों पहिले ही प्रकट कर दिये थे, फिर दूसरी बार इनका प्रकट करना पुनरुक्ति ही है।

सतत्तरवें श्लोक में कृष्ण महाराज के विराट् रूप का स्मरण कराया गया है और सम्भवतः इस श्लोक का प्रसंग छेड़ने के लिये ही प्रक्षेपक महोदय ने छियत्तरवें श्लोक की रचना की हो। आपको भय था कि कहीं उस प्रकरण को कोई प्रक्षिप्त न कह दे! इसलिये आपने उसे फिर दृढ़ कर देना उचित समझा। अस्तु—

यदि ये दोनों श्लोक बीच में न हों तो भी पूर्वापर संगति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इनके निकाल देने से पचहत्तरवें और अठत्तरवें श्लोक का शाब्दिक और आर्थिक सम्बन्ध और भी सुन्दर प्रतीत होता है। पचहत्तरवें श्लोक में सञ्जय ने कहा है कि "यह योग मैंने योगेश्वर कृष्ण से सुना है।" और अठत्तरवें श्लोक में योगेश्वर कृष्ण की ही सत्ता को विजय का साधन कहा है।

गीता का विषय-विवेचन

भाष्य के विशेष चिह्न

गीता भाष्य

सार संगति सहित

* ओ३म् *

गीता का विषय-विवेचन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद अ० ४० । मं० २ ॥

यजुर्वेद का यह मन्त्र कर्मयोग का प्रतिपादन करता है। सम्पूर्ण गीता इसी मन्त्र का भाष्य प्रतीत होती है। एक मन्त्र का इतना विस्तृत, ऐसा भावपूर्ण और स्वारसिक अनुवाद सारे साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिला। इस मन्त्र का भाव है—'कर्म करते हुए ही संसार में जीने की इच्छा करो। यह गति तुम्हें विपरीत मार्ग की ओर ले जाने वाली न होगी, और इस प्रकार का कर्म, बन्धन का कारण न होगा।'

"कर्म बन्धन का कारण न होगा" यह अन्त का वाक्य पहिले विधान किये कर्म में कुछ विशेषता की सूचना देता है। प्रत्येक कर्म से पुण्य या पाप की उत्पत्ति अवश्य होती है और वे पुण्य या पाप ही भले या बुरे जन्म का कारण बनते हैं और जन्म ही बन्धन है। फिर यह कैसे कहा गया कि कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। इसलिये यह ठीक ही है कि जिन कर्मों को जीवन भर करते रहने का वेद इस मन्त्र में उपदेश दे रहा, उन कर्मों में कुछ विशेषता है।

थोड़ी-सी गहराई में जाने से यह बात अनायास समझ में आ जाती है कि यहां पर यह निष्काम कर्म का विधान है। यह निश्चित विचार है कि निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होते।

चलते-चलते पैर तिनके को छू गया। बिना इच्छा के ही वायु के प्रभाव से हाथ, पैर या शिर अपने आप हिलता रहा। ये और इस प्रकार के अन्य कितने ही कर्म, जिनके आरम्भ में इच्छा शक्ति का कोई हाथ नहीं, मनुष्य से बहुधा होते रहते हैं। परन्तु इनका कोई फल भी होगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं। यदि ऐसा होता हो तो वायु के प्रबल वेग से गिरे हुए, मेरे वृक्ष के नीचे दब कर मरे हुए मनुष्य का हत्यारा मुझे ठहराया जाना चाहिये, क्योंकि वह वृक्ष मेरा था। परन्तु मेरा होते हुए भी वह वृक्ष मेरी इच्छा से नहीं गिरा, इसलिये उस मनुष्य के वध का अपराधी मुझे नहीं ठहराया जाता।

पाप या पुण्य एक प्रकार के, अन्तःकरण पर पड़ने वाले संस्कार हैं और वे पड़ते हैं भावना के आधार पर। मनुष्य जिस प्रकार की कामना से किसी कर्म को करता है वैसे ही संस्कार उसके अन्तःतरण पर पड़ जाते हैं। परन्तु जिन कर्मों के आरम्भ में बुरी या भली कोई भी भावना काम नहीं कर रही और जो उदासीन दृष्टि से कर्त्तव्य समझ कर ही किये जा रहे हैं, उनका फल होगा भी तो क्या? और मिलेगा भी तो किस आधार पर? यही कारण है कि निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। फलतः इस वेद मन्त्र के पहिले पाद में निष्काम कर्म का ही विधान है और यह ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

गीता में और जो कुछ भी लिखा गया है वह सब इसी मुख्य विषय की पुष्टि के लिये लिखा गया है। इसलिये सम्पूर्ण गीता इसी एक वेद मन्त्र का भाष्य है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कोई कर्म ऐसा भी होगा, जिसके आरम्भ में कोई कामना ही न होगी? मनुष्य जिस

कर्म को भी करना आरम्भ करता है उसके लिये मन में किसी कामना को रख ही लेता है।

यह ठीक है, कर्म आरम्भ करने से पहिले मनुष्य के सामने यह प्रश्न उपस्थित अवश्य होता है कि मैं इस कर्म को क्यों करूँ? उसे इस प्रश्न के दो उत्तर मिल सकते हैं। उनमें से एक यह है कि कर्म करने वाला मन में किसी फल की कामना कर ले और दूसरा यह कि वह उसे कर्तव्य-बुद्धि से करना आरम्भ कर दे।

"भगवान् ने मेरे लिये वर्ण या आश्रम के अनुसार इस कर्म का विधान किया है। इसका क्या फल होगा, यह सोचने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। मैं इसे इसलिये कर रहा हूँ कि मुझे करना चाहिये" इसी बुद्धि का नाम कर्तव्य बुद्धि है।

गीता इस प्रश्न के इन दोनों उत्तरों में से दूसरे उत्तर को ठीक मानती है। परन्तु दूसरा उत्तर है कठिन। इस उत्तर को देने की योग्यता सम्पादन करने के लिये गीता में कितने ही उपाय बतलाये गये हैं और ये ही विषय गीता के गौण विषय हैं। संग्राम के आरम्भ में अर्जुन के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि मैं इस संग्राम को क्यों करूँ? अर्जुन के उसी भाव का चित्रण करने के लिये व्यास जी ने गीता का प्रथम अध्याय

अर्जुन विषाद

लिखा। अर्जुन का वर्ण क्षत्रिय था और उस वर्ण के अनुसार उसका कर्त्तव्यकर्म था संग्राम। इस संग्राम के फल की ओर अर्जुन ने ध्यान दिया, तो वह बड़ा भयंकर प्रतीत हुआ। अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या उसे खटकने लगी। संग्राम से राज्य-लक्ष्मी का लाभ तुच्छ दिखाई देने लगा। महाराज ने देखा कि तमोगुण का जादू चल गया है। अर्जुन के हृदय पर मोह का आवरण आ

चुका है। वह क्षात्र-धर्म भूल गया है। अर्जुन के इस आवरण को हटाने के लिये महाराज ने उसे दूसरा अध्याय

सांख्ययोग

सुनाया। नित्य-अनित्य, आत्मा-अनात्मा और क्षर-अक्षर की विवेक ज्ञान के द्वारा गणना करने का नाम साङ्ख्य है। इस विवेचन के द्वारा योगिराज ने आत्मा को अमर और शरीर को अवश्य नाश होने वाला सिद्ध कर अर्जुन के मोह और भ्रान्ति को दूर करने का यत्न किया। इसके बाद महाराज ने अर्जुन की, कर्मफल पर दृष्टि और उसके सोचे हुए कर्मफल के त्याग, दोनों ही की समालोचना करते हुए उसे तीसरे अध्याय में

कर्मयोग

निष्काम-कर्म के अनुष्ठान का उपदेश दिया। उन्होंने कहा, अर्जुन! कर्म को कर्तव्य-बुद्धि से करो। फल की कामना का सर्वथा बहिष्कार कर दो। फल का सम्बन्ध टूट जाने पर कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। जब तुम इस संग्राम से यह इच्छा ही न करोगे कि मुझे राज्य-लक्ष्मी मिले; किसी विशेष व्यक्ति का मारना भी तुम्हारा लक्ष्य न होगा; इस संग्राम को केवल कर्तव्य बुद्धि से करोगे इस-लिये कि क्षत्रिय के लिये, धर्मानुकूल संग्राम का न करना पाप है, तब फिर बताओ तुम पाप के भागी क्यों बन जाओगे?

यद्यपि कर्म से कामना का सम्बन्ध तोड़ देना कठिन बात है परन्तु यह कठिन अवश्य है, असम्भव नहीं। अनेक फलों के झमेले से निकाल कर बुद्धि को यदि स्थिर कर लिया जावे, उसमें सुख-दुःख, हानि-लाभ, आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए समान रहने की शक्ति पैदा कर दी जावे, तो बिना कामना के ही कर्तव्य समझ कर कर्म करना कोई कठिन बात नहीं। इस तरह का आचरण करने

वाले मनुष्य की कैसी अवस्था हो जाती है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये महाराजा ने चौथे अध्याय में

स्थितप्रज्ञ का लक्षण

स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का चिह्न भी बतला दिया। आगे चल कर पांचवें अध्याय में

कर्मसंन्यास की अशक्यता

का निर्देश किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मों को सर्वथा छोड़ देना है ही असम्भव। शारीरिक कर्म बलपूर्वक छोड़ भी दिये तो मानसिक कर्म होते रहते हैं। यहां यह शङ्का हो सकती है कि यद्यपि कर्मों का त्याग असम्भव है, परन्तु फल की कामना का त्याग भी बड़ा कठिन है, सब ही स्थिर-बुद्धि नहीं हो सकते। इस प्रश्न में कुछ बल समझ कर महाराज ने छठे अध्याय में

यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता

का प्रसंग छेड़ा। कहा—अर्जुन! यदि फल-कामना का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता, तो यज्ञ के लिये (लोकहित की कामना से) कर्म करो। यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता। कदाचित् यह शङ्का हो कि अर्जुन के संग्राम करने में लोकहित क्या था? अन्याय और अत्याचार का दमन लोकहित ही है। और वह ही इस संग्राम का महात्मा कृष्ण के हृदय में मुख्य उद्देश्य था। यज्ञ आदि कर्म भी सम्भवतः अज्ञानियों के लिये ही विधान किये गये हों। फिर यदि अर्जुन ज्ञान मार्ग का ग्रहण कर ले तो उसे कर्म की क्या आवश्यकता रह जावेगी? इसी प्रश्न का निर्णय करने के लिये महाराज ने सातवें अध्याय में

ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता

बतलाई कर्म करने से ज्ञानी को तो पाप लगता नहीं क्योंकि वह

ज्ञानी होने के कारण किसी कर्म फल की कामना करेगा ही नहीं। और कामना के बिना पाप-पुण्य का भागी नहीं बन सकता और यदि वह कर्म छोड़ दे, तो उसके दृष्टान्त से अज्ञानी लोग भी कर्म छोड़ देंगे, और यह उनकी क्रिया उनके लिये बड़ी घातक सिद्ध होगी, इसीलिये ज्ञानी को भी कर्म करना ही चाहिये। आप लोगों के लिये ज्ञानी भी आदर्श बनने की आवश्यकता बतलाते हैं। भला इसकी आवश्यकता ही क्या है? लोग सब जानते ही हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म। फिर वे जानते हुए भी पाप कर्म में प्रवृत्त होते क्यों हैं? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये महाराज ने आठवें अध्याय में

प्रवृत्ति के प्रधान कारण

बतलाया। कहा—अर्जुन! इन बेचारों का दोष नहीं। इनके हृदयों में रजोगुण की मात्रा अधिक है। रजोगुण काम और क्रोध का पिता है। और काम तथा क्रोध पाप कर्म की ओर मनुष्य को बलपूर्वक खींचकर ले जाते हैं। तब फिर क्या कर्म कभी छूट ही नहीं सकेगा? इसके उत्तर में महाराज ने नवें अध्याय में बताया कि

कर्मसंन्यास का साधन कर्म है

कर्म का त्याग तो यह ही है कि वे अपना काम न कर सकें, मनुष्य को बन्धन में डाल सकें। अर्जुन! यह कार्य भी कर्मयोग से ही सिद्ध हो जावेगा। फल की कामना को छोड़कर किया हुआ कर्म नपुंसक बन जाता है, फल देने के योग्य रहता ही नहीं। जब वह काम ही न कर सका तो उसका संन्यास सुतरां हो गया। पहिले महाराज यज्ञ के लिये और ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता बतला चुके हैं। परन्तु वे यज्ञ और ज्ञान क्या पदार्थ हैं, कितने प्रकार के हैं, और उनका क्या स्वरूप है, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं किया गया था। इसलिये दशम अध्याय में

यज्ञ और ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता

का वर्णन किया गया। द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और ज्ञानयज्ञ इन सब यज्ञों का व्याख्यान करते हुए इस अध्याय में ज्ञान को श्रेष्ठ कहा है। यहां संशय को दूर कर किसी निर्णय पर पहुंचाने का नाम ज्ञान है। अर्जुन संशय में पड़ा हुआ था। इसलिये उसे किसी निर्णय पर पहुंचाने के लिये महाराज ने उपदेश किया है।

'यदि ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है तो फिर ज्ञान से ही क्यों न काम लिया जावे। कर्म की क्या आवश्यकता है? यह तो दूसरे शब्दों में कर्म-संन्यास का ही उपदेश हो गया। आप का उपदेश कुछ मिला जुला सा है। कृपया निश्चय करके बतलाइये कि कर्मयोग और कर्म संन्यास इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है।' अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये महाराज ने ग्यारहवें अध्याय में

कर्मसंन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता

का वर्णन किया। यद्यपि संन्यास और कर्म दोनों ही अच्छे हैं परन्तु अनुष्ठान की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। फल की कामना छोड़कर कर्म किया जा सकता है, परन्तु कर्म का सर्वथा छोड़ना कठिन है। कर्म का त्याग यदि करना भी हो तो पहिले मन से कामनाओं का त्याग करना पड़ेगा नहीं तो कर्म फिर भी मन से होते रहेंगे। और यदि कामनाओं का त्याग करना पड़ा तो पहिले कर्मयोग का आरम्भ अपने आप ही हो गया। यह विधि कर्म को फल देने योग्य छोड़ेगी ही नहीं, इसलिये अब कर्मसंन्यास की आवश्यकता ही न पड़ेगी।

यद्यपि यह ठीक है, परन्तु फल-कामना का त्याग भी तो टेढ़ी खीर है। इसके उत्तर में महाराज ने बारहवें अध्याय में

साम्यबुद्धि और साधन ध्यानयोग

का वर्णन किया। जो मनुष्य सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, सोना-मिट्टी और लाभ-हानि इन सब को एक दृष्टि से देखता है उसकी बुद्धि सम है। और जिसके अन्तःकरण में इस साम्यबुद्धि का जन्म हो गया, भला फिर वह कामना करेगा किस लिये ? इस साम्यबुद्धि को भी मनुष्य बिना कठिनाई के प्राप्त कर सकता है, यदि वह ध्यान योग का अनुष्ठान करे।

ध्यानयोग ऐसी क्रिया है जिससे "एक पन्थ दो काज" सिद्ध होते हैं। यह साम्यबुद्धि को तो उत्पन्न कर देता है, परन्तु जिसकी प्राप्ति के बिना सब कर्म निःसार हैं, उस जगन्नियन्ता प्रकाश के पुञ्ज भगवान् के भी यह दर्शन करा देता है। प्रसंग से महाराज ने ईश्वर की प्राप्ति के दूसरे साधन

भक्तियोग

का तेरहवें अध्याय में वर्णन किया। भक्तियोग भी जहां ईश्वर की प्राप्ति का साधन है, उसके साथ चित्त में एकाग्रता को उत्पन्न करता हुआ, साम्यबुद्धि की उत्पत्ति में भी कारण है।

ध्यानयोग, भक्ति और साम्यबुद्धि ये सब के सब ही यम नियम के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये चौदहवें अध्याय में महाराज ने—

ज्ञानयोग

का निरूपण किया है। अहिंसा, शौच आदि सदाचार के जिन नियमों को, योगदर्शन में यम नियम और मनु ने धर्म कहा है; वैसे ही कुछ अंगों को यहां ज्ञान कहा है। वास्तव में धर्म के ये अंग अन्तःकरण में ध्यानयोग तथा साम्यबुद्धि की योग्यता उत्पन्न कर, मनुष्य को कर्मयोग का सच्चा अधिकारी बना सकते हैं।

सत्व, रजः और तम ये तीनों गुण, मनुष्य के जीवन-भर के सारे कार्य-क्रम का सञ्चालन करने वाले हैं। अन्तःकरण में इन तीनों में से जिस गुण की प्रधानता होगी, उस गुण के प्रभाव से मनुष्य वैसे ही कार्य कर सकेगा उसके विपरीत नहीं। गुणों की इस विशेषता को समझाने के लिये ही महाराज ने पन्द्रहवें अध्याय में

गुण-कार्य-विवेक

का वर्णन किया है। गुण-कार्य-विवेक 'विज्ञानयोग' का ही एक अंग है, इसलिये इस अध्याय से विज्ञानयोग का आरम्भ हो गया है। इस अध्याय में गुणों और उनके कार्यों का निर्देश करते हुए, गुणों से ऊँचा उठने का उपदेश किया गया है।

अर्जुन गुणों से ऊँचा उठकर गुणातीत होने का अधिकारी न था। उसके हृदय में सत्व गुण का उदय हो चुका था, इसलिये वह दैवी सम्पत्ति का अधिकारी था। और इसलिये महाराज ने उसे उसकी स्थिति समझाने के लिये सोलहवें अध्याय में,

देव-आसुर भाव-विवेक

का व्याख्यान किया है। दैवी और आसुरी सम्पत्ति का इस अध्याय में सुन्दर वर्णन है। अर्जुन ने प्रश्न किया कि महाराज ! जो लोग शास्त्रविधि (कर्मयोग की विधि) के बिना ही यज्ञ करते हैं उनकी, सत्वगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी कौनसी निष्ठा होती है ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने सत्रहवें अध्याय में—

गुणनिष्ठा

का व्याख्यान किया। किस गुण में निष्ठा होने से मनुष्य की क्या अवस्था होती है और वह कैसे कर्म करता है, इस अध्याय में ऐसे ही विषयों का वर्णन है।

इस व्याख्यान को सुन कर अर्जुन ने, कर्मयोग और कर्म-संन्यास का भी गुणों की दृष्टि से व्याख्यान सुनना चाहा, इसलिये अठाहरव अध्याय में महाराज ने गुणों की दृष्टि से संन्यास और योग का व्याख्यान करने के लिये, फिर

गुणनिष्ठा

का ही प्रकारान्तर से निरूपण किया है। अन्त में अर्जुन को समझ में आ गया कि मेरे अन्दर तमोगुण तो है नहीं, रजोगुण और सत्वगुण दोनों विद्यमान हैं, महाराज के उपदेश से तमोगुण से उत्पन्न हुए मोह का पर्दा हट गया और मेरा क्षात्रधर्म रजोगुण की सहायता से मुझे अब धर्म-युद्ध करने के लिये प्रेरणा करने लग गया है। वह यह भी समझ गया कि सत्वगुण की सहायता से मैं इस युद्ध को निष्काम भाव से कर सकता हूँ, और इससे होने वाले पाप या पुण्य से छुटकारा पा सकता हूँ, यह समझ कर अर्जुन ने महाराज को रणक्षेत्र में कूदने की अनुमति दे दी, और गीता का उपदेश समाप्त हुआ।



ओ३म्

भाष्य के विशेष चिह्न

गीता के श्लोकों का भाषा में अर्थ करते हुए यह ध्यान रक्खा गया है कि शब्दों के अर्थ और भावार्थ दोनों इकट्ठे ही आ जावें। पृथक् पृथक् लिखने से पुस्तक और भी बड़ी हो जाती। कोष्ठ में लिखे हुए शब्दों को छोड़कर, पाठक यदि केवल भाषा पढ़ेंगे तो भाषा केवल मुहावरे में होगी। शब्द का अर्थ साथ साथ दिखलाने के कारण मुहावरे में कहीं-कहीं त्रुटि भी आ गई है। अर्थ अन्वय के क्रम से दिखलाये गये हैं। समस्त पदों की भी सन्धियों का विभाग कोष्ठ में इसलिए कर दिया गया है कि शब्दों के अर्थ पाठकों की समझ में, शब्द का पूरा ज्ञान होकर, ठीक-ठीक आ सकें। एक को दूसरे शब्द से पृथक् करने के लिये कोष्ठ में लिखे संस्कृत के शब्दों के बीच में भी और उनके भाषा में किये गये अर्थों के बीच में भी (—) यह चिह्न दिया गया है, किसी भाषा के शब्द का भाव जहां दूसरे शब्द में समझाया गया है, वहां उन दोनों शब्दों के बीच में =) यह चिह्न दिया गया है। भाषा के मुहावरे को पूरा करने के लिये जो शब्द या वाक्य कहीं अपनी तरफ से लिखने पड़े हैं, उन शब्दों या वाक्यों के दोनों तरफ (" ") यह चिह्न दिया गया है। मुहावरे को ठीक करने के लिये किसी समास को दो तीन पदों में से जहां किसी पिछले पद का अर्थ पहिले और पहिले का पीछे से किया गया है वहां संस्कृत के शब्दों के साथ भी ३-२-१ अङ्क इस लिये लगा दिये गये हैं कि पाठक यह समझ सकें कि यह तीसरे दूसरे या पहिले पद का अर्थ है। किसी

विषय को समझाने के लिये जहां कहीं अपनी तरफ से विशेष लिखना पड़ा है, वहां भी ( ) यह चिह्न ही दिया गया है।
प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में उस अध्याय के सार और संगति को भी लिख दिया गया है। पाठक उसे पढ़कर फिर अध्याय का भाषा अर्थ पढ़ें। ❀

❀प्रचलित गीता के वैदिक गीता में जा श्लोक स्वीकार किये गये हैं, उनकी संख्या के आगे कोष्ठक में प्रचलित गीता के अध्याय और श्लोक की संख्या इस प्रकार दी गई है।

जैसे कि वैदिक गीता के प्रथम अध्याय में प्रचलित गीता का द्वितीय अध्याय का प्रथम श्लोक लिया गया है। उसकी संख्या ४८ के आगे कोष्ठक में (२) लिख दिया गया है। इससे यह समझा जावेगा कि यह श्लोक प्रचलित गीता के दूसरे अध्याय का पहिला है। यह ही प्रकार सवत्र समझिये। जिन श्लोकों में आगे ऐसा नहीं लिखा गया है वे श्लोक प्रचलित गीता में तथा वैदिक गीता में भी उसी अध्याय के उसी संख्या के समझें।

सार और संगति

प्रथम अध्याय

* अर्जुन विषाद *

महर्षि व्यास प्रणीत गीता का यह प्रथम अध्याय, एक प्रकार से, अर्जुन को दिये गये कर्मयोग के उपदेश की भूमिका है। अर्जुन की भुजाएं, बर्षों से इस संग्राम के लिये फड़क रही थीं। इस संग्राम में प्रतिबन्धक, बनवास का एक-एक दिन उसे वर्ष के समान लम्बा दिखाई दे रहा था। कौरवों से किया हुआ घोर अपमान, उसे एक क्षण के लिये भी भूलता न था। योगिराज कृष्ण को बड़े यत्नों से उसने ही संग्राम के लिये तैयार किया, और अपना रथवान् बनाया। परन्तु अब पासा ही उलट गया। सामने खड़े सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन के हृदय के किसी कोने में छिपा तमोगुण, मोह का रूप धारण कर सामने आ खड़ा हुआ, और अपनी एक दृष्टि से इसने अर्जुन को धनुष बाण दूर रख देने के लिये विवश कर दिया। बस मोह के ऐसे ही सफल जादू का चित्र व्यास जी ने इस अध्याय में खींचा है।

मोह ने अर्जुन की क्षात्र भावना को अपने प्रबल आक्रमण से अज्ञान के पर्दे में छिपा दिया और इसी आवेश में वह ही अर्जुन उसी महात्मा कृष्ण के सामने नकार का बेसुरा राग अलापने लगा। अर्जुन ने कहा—महाराज! क्या इस तुच्छ से राज्य और भोगैश्वर्य के लिये, मैं अपने गुरुओं, बन्धुओं और सम्बन्धियों के रक्त से हाथ रंगूँ! क्या इनकी बची हुई कुल-देवियों के शील के पतन और वर्णसङ्करता के भाव को मैं अपने

हाथों से जन्म दूं !! और क्या इसी तुच्छ से राज्य के लिये मैं अपने वंश को और उसके साथ ही अपनी सभ्यता का सर्वनाश कर दूँ !!! नहीं महाराज ! मुझसे यह न होगा। इसकी अपेक्षा तो यदि ये लोग मुझे निहत्थे का ही; इस रणभूमि में शस्त्रों से अन्त कर दें तो मेरा परम कल्याण हो। बस इतना ही निवेदन कर मोह की विजय का डंका बजाता हुआ अर्जुन धनुष-बाण रख कर रण-भूमि में बैठ गया।

प्राचीन काल के वीर क्षत्रिय, धर्म के अनुकूल संग्राम में प्राणों की भेंट चढ़ाना अपना कर्तव्य समझते थे। महाभारत-काल तक भी, क्षत्रियों के हृदय के साथ इस अनूठे भाव का गम्भीर सम्बन्ध रहा है इसी प्रकार के इस संग्राम में, प्रथम दिखलाया गया अर्जुन का विषाद, योगिराज कृष्ण को अनुचित प्रतीत हुआ। और इसलिये उन्होंने इस विषाद को अनार्य पुरुषों का विचार कहने में कोई संकोच न किया और कहा —अर्जुन! नपुंसक न बनो, हृदय की दुर्बलता को छोड़ो; और खड़े हो जाओ। महाराज के उत्तेजित करने वाले ये शब्द अर्जुन ने सुन तो लिये, परन्तु ये कठोर शब्द भी उसके हृदय में आवेश पैदा करने के लिये सफल न हुए। उसने फिर अपने उन्हीं पहिले विचारों को दूसरे शब्दों में दुहरा दिया, और यहां तक कह दिया कि महाराज ! मैं तो इस युद्ध से, भीख मांग कर खा लेना अच्छा समझता हूं। हां, उसने महात्मा कृष्ण द्वारा अपने ऊपर लगाये दोष को स्वीकार अवश्य कर लिया, और कहा कि निश्चय ही मेरा क्षत्रिय स्वभाव मोह के आक्रमण से नष्ट हो गया है। मुझे अब कुछ नहीं सूझता। वंश के इस भयङ्कर रक्त पात के सामने, मुझे तो अब इन्द्र का राज्य भी तृण के समान दीखता है। आप गुरु हैं, उचित उपदेश करें; मेरा तो उत्तर यह ही है कि न लड़ूँगा।

❀ ओ३म ❀

गीता-भाष्य

प्रथम अध्याय

अर्जुन विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ।१।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! (धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे) पुण्यभूमि-कुरुक्षेत्र में, (समवेताः युयुत्सवः) इकट्ठे हुए-युद्ध की इच्छा वाले मामकाः-च-एव-पाण्डवाः। मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने (किम्-अकुर्वत) क्या किया ॥१॥

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय ने कहा—(राजा) दुर्योधन (तदा-पाण्डव-अनीकम्) उस समय पाण्डवों की सेना को (दृष्ट्वा) देखकर (आचार्यम्-उप-सङ्गम्य) आचार्य के समीप आकर (वचनम्-अब्रवीत्) वचन कहने लगा ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां आचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! (धीमता) बुद्धिमान् (तव शिष्येण) तेरे शिष्य (द्रुपदपुत्रेण) द्रुपद के पुत्र=धृष्टद्युम्न से (व्यूढाम्) नियम से खड़ी की हुई (पाण्डुपुत्राणाम्) पाण्डु के पुत्रों की (एताम्-महतीम्-चमूम्) इस बड़ी सेना को (पश्य) देख ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

(अत्र-युधि) इस संग्राम में (भीम-अर्जुन-समाः) भीम 'और' अर्जुन-जैसे (महा-इष्वासाः) बड़े-धनुषधारी (युयुधानः-च-विराटः) युयुधान और विराट (च-महारथः द्रुपदः) और-महारथी द्रुपद ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः, काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च, शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

(धृष्टकेतुः-चेकितानः) धृष्टकेतु, चेकितान (वीर्यवान्-काशिराजः) शक्तिशाली-काशी का राजा, (पुरुजित्-कुन्तिभोजः) पुरुजित कुन्तिभोज, (च-नर पुङ्गवः शैब्यः) और-नरश्रेष्ठ-शिविदेश का राजा ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

(विक्रान्तः) पराक्रमी (युधामन्युः) युधामन्यु (वीर्यवान्) शक्तिशाली (उत्तमौजाः) उत्तमौजा, (सौभद्रः) सुभद्रा का पुत्र=अभिमन्यु (च द्रौपदेयाः) और-द्रौपदी के पुत्र 'ये' (सर्वे-एव) सब ही (महारथाः) महारथी हैं ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

(द्विजोत्तम) हे द्विजश्रेष्ठ ! (ये-तु-अस्माकम्-विशिष्टाः) जो-कि-हमारे-विशेष पुरुष हैं. (तान्-निबोध) उनको 'भी' जानो=सुनो । (तान्-ते-संज्ञार्थम्-ब्रवीमि) उन्हें-आपके-परिचय के लिये-कहता हूं ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

(भवान् च-भीष्मः) आप-और भीष्म (कर्णः-च-समितिं-जयः-कृपः) कर्ण-और-रण को-जीतने वाला कृपाचार्य (अश्वत्थामा च-विकर्णः) अश्वत्थामा-और-विकर्ण=धृतराष्ट्र का एक पुत्र, (च-तथा-एव और वैसे ही (सोमदत्तिः) सोमदत्त का पुत्र=भूरिश्रवा ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

(मत्-अर्थे) मेरे-लिये (त्यक्त-जीविताः) २ प्राण १ त्यागने वाले (अन्ये-च-बहवः-शूराः) और-भी बहुत से वीर 'हैं, जो' सर्वे (युद्ध-विशारदाः) सब-युद्ध में-निपुण हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

(तत् अस्माकम्-भीष्म-अभि-रक्षितम्-बलम्) वह-हमारी भीष्म से-रक्षित-सेना (अपर्याप्त) असंख्य है । 'और' एतेषाम् भीम-अभिरक्षितम्-बलम्-तु इनकी भीम से रक्षित-सेना तो (पर्याप्तम्) परिमित है=संख्या में थोड़ी है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

(हि) इसलिये (सर्वेषु-अयनेषु) 'सेना के' सब-प्रवेशद्वारों में (यथा-भागम्) २ बाँट के १ अनुसार (अवस्थिताः) खड़े हुए (भवन्तः-सर्वे-एव) आप-सब हो (भीष्मम् एव-अभि-रक्षन्तु भीष्म की-ही-सब ओर से-रक्षा करें ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(प्रतापवान्) प्रतापी (कुरुवृद्धः-पितामहः) कुरुओं के बूढ़े-पितामह=भीष्म 'ने' (उच्चैः-सिंहनादम्-विनद्य) ऊँचे--सिंह-जैसे शब्द की गर्जना कर (शंखं-दध्मौ) शङ्ख बजाया ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

(ततः) उसके बाद (शङ्खाः-च-भेर्यः) शङ्ख-और नक्कारे (पणव-आनक-च गोमुखाः) ढोल-डमरू और नरसिंहे (सहसा एव अभि-अहन्यन्त एकदम ही दोनों ओर बजने लगे, (सः शब्दः-तुमुलः-अभवत्) वह-शब्द-बहुत ऊँचा-हुआ ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

(ततः उसके बाद (श्वेतैः-हयैः-युक्ते-महति-स्यन्दने) सफेद-घोड़ों से युक्त-बड़े-रथ पर (स्थितौ-माधवः-च एव-पाण्डवः) खड़े हुए-कृष्ण-और-पाण्डव (दिव्यौ-शङ्खौ-प्रदध्मतुः) दैवी-शंख (वैज्ञानिक रीति से बनाए हुए मारू बाजे) बजाने लगे ॥१४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

(हृषीकेशः) कृष्ण (पाञ्चजन्यम्) पाञ्चजन्य नामक धनञ्जयः-देवदत्तम्) अर्जुन-देवदत्त नामक 'और' (भीम-कर्मा वृकोदरः) भयङ्कर कर्म वाला-भीमसेन (पौण्ड्रम्-महाशंखम्-दध्मौ) पौण्ड्र नामक महाशंख को बजाने लगा ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

(कुन्तीपुत्रः-युधिष्ठिरः-राजा) कुन्ती कापुत्र -युधिष्ठिर-राजा (अनन्त-विजयम्) अनन्त विजय नामक, (नकुलः-च-सहदेवः-सुघोष-मणिपुष्पकौ) नकुल-'और'-सहदेव-सुघोष 'और मणि-पुष्पक नाम वाले 'शंखों को बजाने लगे' ॥१६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

(परम इष्वासः-काश्यः च) बड़े-धनुष वाला-काशी का राजा-और (महारथः-शिखण्डी) महारथी-शिखण्डी (धृष्टद्युम्नः-च विराटः) धृष्टद्युम्न-और विराट (अपराजितः-सात्यकिः) न हारने वाला-सात्यकि ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ।८।

(पृथिवीपते) हे पृथिवी के स्वामी ! (द्रुपदः-च-द्रौपदेयाः) द्रुपद-और-द्रौपदी के पुत्र (च-महाबाहुः) और बड़ी भुजाओं वाला (सौभद्रः) सुभद्रा का पुत्र=अभिमन्यु (पृथक्-पृथक्-शंखान् दध्मुः) अलग-अलग-शंखों को बजाने लगे ॥१८)

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

(सः-तुमुलः-घोषः) वह-घोर-शब्द (नभः-च-पृथिवीम्-च-एव) आकाश-और-पृथिवी-को भी (वि-अनुनादयन्) विशेष रूप से गुँजाता हुआ (धार्तराष्ट्राणाम्) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हृदयानि) हृदयों को (व्यदारयत) फाड़ने लगा ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

(महीपते हे पृथिवीपति ! (अथ-कपिध्वजः) इसके बाद-वानर की ध्वजा वाला=अर्जुन (धार्तराष्ट्रान्-व्यवस्थितान्-दृष्ट्वा) धृतराष्ट्र के पुत्रों को-नियम में खड़े-देखकर (शस्त्र-सम्पाते-प्रवृत्ते) शस्त्रों का-चलना-आरम्भ होने के समय (धनुः उद्यम्य) धनुष उठाकर (हृषीकेशम्-इदम् वाक्यम्-आह) कृष्ण को-यह-वाक्य कहने लगा-

अर्जुन बोला—(अच्युत) हे निश्चल=कृष्ण (उभयोः—सेनयोः—मध्ये) दोनों-सेनाओं के बीच में (मे-रथम्-स्थापय) मेरे रथ को-खड़ा करो ॥२०।२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धु कामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

(यावत) जिससे कि (योद्धु कामान्-एतान् अवस्थितान्) युद्ध की कामना वालों इन खड़े हुओं को (अहम्-निरीक्षे) -मैं

देखूँ । 'कि' (अस्मिध्या-रण-समुद्यमे) इस युद्ध के-उद्योग में (मया-कैः-सह-योद्धव्यम्) मुझे किन के साथ लड़ना है ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

(अहम्) मैं (योत्स्यमानान्) लड़ने वाला को (अवेक्षे) देखता हूं (य-एते-अत्र) जो-ये-यहां पर (दुर्बुद्धेः-धार्तराष्ट्रस्य) कुबुद्धि-धृतराष्ट्र के पुत्र का (युद्धे-प्रिय-चिकीर्षवः) युद्ध में प्रिय-करने की इच्छा वाले, (समागताः) आये हैं ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सञ्जय ने कहा—(भारत) हे भरत-सन्तान=धृतराष्ट्र ! (हृषीक-ईशः) इन्द्रियों का स्वामी=कृष्ण (गुडाका-ईशेन) निद्रा के विजेता=अर्जुन के (एवम्-उक्तः) इस प्रकार कहने पर (उभयोः-सेनयोः-मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (रथ-उत्तमम्) श्रेष्ठ—रथ को (स्थापयित्वा) खड़ा करके ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

(भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः) भीष्म 'और' द्रोण के सामने (च सर्वेषाम्-महीक्षिताम्) और-सब-राजाओं के सामने (उवाच) कहने लगा, (पार्थ) हे पृथा-पुत्र ! (एतान् समवेतान्-कुरून्) इन इकट्ठे हुए-कुरुओं को (पश्य) देख ॥२५॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृ न् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।

(तत्र) वहां (पार्थः) अर्जुन 'ने' (पितृ न्-अथ पितामहान्) पिताओं और-दादाओं,(आचार्यान्-मातुलान्-भ्रातृ न-पुत्रान्-पौत्रान् तथा-सखीन्) आचार्यों- मामाओं पुत्रों पोतों तथां साथिओं श्वशुरान्-च-एव-सुहृदः) श्वसुरो और मित्रों (उभयो-अपि-सेनयोः) दोनों ही सेनाओं के 'लोगों को' (स्थितान्-अपश्यत्) खड़े हुओं को देखा। (स-कौन्तेयः) वह कुन्ती पुत्र (तान्-सर्वान्-अवस्थितान्-बन्धून्-समीक्ष्य) उन-सब खड़े-हुए परिवार के लोगों को देख कर ॥२६।२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।२८।

(परमा-कृपया) अत्यन्त-कृपा से (आविष्टः) पूर्ण हुआ (विषीदन्-इदम्-अब्रवीत्) दुःखी होता हुआ यह कहने लगा।

अर्जुन बोला

हे कृष्ण ! (युयुत्सुम्) युद्ध की इच्छा वाले (इमम्) इस (समुपस्थितम्) आये हुए (स्वजनम्) अपने-बन्धुवर्ग को (दृष्ट्वा) देखकर ।२८।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

(मम-गात्राणि-सीदन्ति) मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं (चमुखम्-परिशुष्यति) और-मुंह-सूख रहा है (च-में-शरीरे) और मेरे-शरीर में (वेपथुः-च-रोमहर्षः) कम्प-और-रोमाञ्च (जायते) हो रहा है ॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।३०।

(हस्तात्-गाण्डीवम्-स्रंसते) हाथ से-गाण्डीव-धनुष गिर रहा है (च-एव-त्वक्-परिदह्यते) और-त्वचा-जल रही है। (च-अवस्थातुम-न-शक्नोमि) और-खड़ा होने के लिये-शमर्थ नहीं हूँ (च-मे-मनः-भ्रमति-इव) और मेरा-मन-घूम सा रहा है ।३०।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।३१।

(च-केशव) और-हे कृष्ण (निमित्तानि-विपरीतानि-पश्यामि) लक्षण=हालात उलटे-देख रहा हूं। (च-आहवे-स्वजनम्-हत्वा) और-सङ्ग्राम में-अपने-बन्धुओं को-मारकर (श्रेयः-न-अनुपश्यामि) कल्याण नहीं देखता हूँ ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किन्नो राज्येन गोविन्द किम्भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण ! (विजयम्-राज्यम्-च-सुखानि-न-काङ्क्षे) जीत-राज्य-और-सुख-नही-चाहता (गोविन्द) हे गौवों के प्राप्त करने वाले=कृष्ण ! (नः-राज्येन-भोगैः-वा-जीवितेन-किम्) हमारे राज्य-से-भोगों-से-या-जीवन-से-क्या लाभ ।३२।

येषामर्थे काङ्क्षितन्नो राज्यम्भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

(नः) हमें (येषाम्-अर्थे) जिनके-लिये (राज्यम्-भोगाः-च सुखानि) राज्य-भोग-और-सुख (काङ्क्षितम्) चाहियें । (ते-इमे) वे-ये (आचार्याः-पितरः-पुत्राः) आचार्य-पिता-पुत्र (च-एव-तथा) और-उसी तरह (पितामहाः) दादा (मातुलाः) मामा (श्वशुराः-पौत्राः-श्यालाः-तथा-सम्बन्धिनः) श्वसुर-पोते-साले-और-सम्बन्धी लोग, (प्राणान्-च-धनानि-त्यक्त्वा) प्राणों-और-सम्पत्तियों को छोड़ कर (युद्धे-अवस्थिताः) सङ्ग्राम में-खड़े हैं ३३।३४।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ।३५।

(मधु-सूदन) हे-मधुके-मारने वाले ! (एतान्-घ्नतः-अपि) इन्हें-मारते हुओं को-भी त्रैलोक्य-राज्य-हेतोः-अपि) तीनों लोकों के-राज्य के-लिये भी (न-हन्तुम्-इच्छामि) नहीं-मारना-चाहता, (महीकृते-नु-किम्) पृथिवी के-लिये-तो-क्या ।३५।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।३६।

(जनार्दन) हे दुर्जनों को कष्ट देने वाले=कृष्ण ! (धार्त-राष्ट्रान्-निहत्य) धृतराष्ट्र के पुत्रों को-मार कर (नः-का-प्रीतिः-स्यात) हमें क्या-प्रसन्नता-होगी (एतान्-आततायिनः) इन-अपराधियों को (हत्वा) मार कर (अस्मान्-पापम्-एव-आश्रयेत्) हमें-पाप-ही-लगेगा ।३६।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।३७।

(तस्मात्-वयम्) इसलिये-हम (स्वबान्धवान्-धार्तराष्ट्रान्) अपने भाइयों-धृतराष्ट्र के पुत्रों को (हन्तुम्) मारने के (अर्हाः) योग्य=अधिकारी (न) नहीं हैं । (माधव) कृष्ण ! (स्वजनम्) अपने बन्धुओं को (हत्वा) मार कर (कथम्-सुखिनः-स्याम) कैसे-सुखी-होंगे ३७।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतन्दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।३८।

(यद्यपि-लोभ-उपहत-चेतसः) चाहे-लोभ से-बिगड़े-चित्त वाले (एते) ये (कुल-क्षय-कृतम्) कुल के-नाश से-होने वाले-अपराध (च) और (मित्र-द्रोहे-पातकम) मित्र से-द्रोह करने पर-होने वाले-पाप को (न-पश्यन्ति) नहीं-देखते ।३८।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।३९।

हे जनार्दन ! (कुल-क्षय-कृतम्-दोषम्-प्रपश्यद्भिः) कुल-नाश से-होने वाली-हानि-देखते हुओं को (अस्माभिः) हमें (अस्मात्-पापात्-निवर्तितुम्) इस-पाप से-बचने का (कथम्-न-ज्ञेयम्) क्यों-नहीं-निश्चय करना चाहिये ।३९।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।४०।

(कुलक्षये) कुल के नाश होने पर (सनातनाः-कुल धर्माः प्रणश्यन्ति) सदा से चले आये-कुल के धर्म-नष्ट हो जाते हैं। (उत-धर्मे-नष्टे) और-धर्म के-नष्ट होने पर (कृत्स्नम्-कुलम्-अधर्मः-अभिभवति) सारे-कुल को अधर्म-दबा लेता है ।४०।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।४१।

हे कृष्ण ! (अधर्म-अभिभवात्) अधर्म से 'कुल के' दबाये जाने पर (कुलस्त्रियः-प्रदुष्यन्ति) कुलकी स्त्रियें बिगड़ जाती हैं। (वार्ष्णेय) हे वृष्णि-सन्तान ! (स्त्रीषु दुष्टासु-वर्णसङ्करः-जायते) स्त्रियों के-दूषित हो जाने पर-वर्णसङ्कर-पैदा हो जाता है ।४१।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।४२।

(संकर) वर्णसंकर (कुलघ्नानाम्-च-कुलस्य) कुल-का नाश करने वालों के और-कुल के (नरकाय-एव) महादुःख का साधन-ही है। (हि-एषाम्-पितरः) क्योंकि इनके-वृद्ध लोग। (लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः) २ अन्न का ग्रास ३ जल 'और' ४ सेवा का' कर्म, १ लुप्त हो जाने से (पतन्ति) पतित हो जाते हैं=मारे मारे फिरते हैं ।४२।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।४३।

(कुलघ्नानाम्-एतैः-वर्णसंकर-कारकैः-दोषैः) कुल नाशकों के-इन वर्णसंकर पैदा करने वाले-दोषों-से (जाति-धर्माः) वर्ण-धर्म (च शाश्वताः-कुल-धर्माः) और सनातन कुल के धर्म (उत्साद्यन्ते) उखाड़ दिये जाते हैं ।।४३।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

हे जनार्दन ! (उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्) २ कुल के-३ धर्म-१ छोड़ने वाले (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (नियतम्-नरके-वासो-भवति) निश्चय-नरक में=दुःख-दायक योनियों में, निवास-होता है। (इति-अनुशुश्रुम) यह सुनते आये हैं ।।४४।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

(अहो) ओह ! (बत) खेद है (वयम् महत् पापम्) हम-बड़ा-पाप (कर्तुम्-व्यवसिताः) करने लगे हैं। (यत् राज्य-सुख लोभेन) जो कि राज्य के-सुख के-लोभ से (स्वजनम्-हन्तुम्-उद्यताः) अपने आदमियों को-मारने को-तैयार हुए हैं ।।४५।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

यदि (शस्त्र-पाणयः) शस्त्र हाथ में लिये (धार्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पत्र (माम-अप्रतीकारम्-अशस्त्रम्) मुझे-न बदला लेते हुए-शस्त्र से रहित निहत्थे को (रणे-हन्युः) रण में मार दें (तत्-मे) तो-मेरा (क्षेमतरम्-भवेत्) परम कल्याण हो।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

संजय कहने लगा—(शोक-संविग्न-मानसः) शोक से-खिन्न-चित्त वाला (अर्जुनः) अर्जुन (एवम्-उक्त्वा) ऐसा-कह कर (सश-

रम् चापम्-विसृज्य) बाण सहित-धनुष को-छोड़ कर (रथ-उपस्थे) रथ के ऊपर (उप-आ-विशत) बैठ गया ॥४७॥

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥४८॥२अ०।१श्लोक

(तथा-कृपया-आविष्टम्) उस प्रकार-दया से-पूर्ण 'अश्रु-पूर्ण-आकुल-ईक्षणम्) आंसुओं से-भरे-व्याकुल=घबराये हुये-नेत्रों वाले (विषीदन्तम् तम) उदास हुये हुये अर्जुन को (मधु-सूदनः) मधु-नाशक=कृष्ण (इदम्-वाक्यम्-उवाच) यह-वचन-कहने लगे ॥४८॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥४९॥२।२।

श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! (त्वा-विषमे) तेरे पास-'इस' कठिन समय में (इदम्-अनार्य-जुष्टम्) यह-अनार्यों का-प्रिय (अस्वर्ग्यम्) सुख का न देने वाला (अकीर्तिकरम्-कश्मलम्) अपयश का-करने वाला=देने वाला-मोह (कुतः-समुपस्थितम्) कहां से आ गया ॥४९॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥५०॥२।३।

(पार्थ) हे पृथापुत्र=अर्जुन ! (क्लैब्यम्-मास्म गमः) नपुंसकता को-मत-प्राप्त हो । (एतत् त्वयि-उपपद्यते-न) यह-तुझमें=तेरे लिये-युक्त-नहीं । (परन्तप) हे शत्रुओं को तपाने वाले (क्षुद्रम्-हृदय-दौर्बल्यम्) तुच्छ-हृदय की दुर्बलता को (त्यक्त्वा-उत्तिष्ठ) छोड़ कर-उठ॥५०॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥५१।२।४॥

अर्जुन बोले—(अरिसूदन-मधु-सूदन) हे शत्रु-नाशक 'एवम्' मधुनाशक=कृष्ण ! (अहम्-संख्ये) मैं संग्राम में (पूजा-अर्हौ-भीष्मं-च-द्रोणम्) पूजा के योग्य-भीष्म-और-द्रोण के साथ (इषुभिः-कथम्-प्रतियोत्स्यामि) । बाणों से-कैसे-लड़ूँगा ॥५१॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५२।२।५॥

(हि-महानुभावान्-गुरून्-अहत्वा) क्योंकि-महाशय गुरुओं को-न-मार कर (इह लोके-भैक्ष्यम्-अपि-भोक्तुम्-श्रेयः) इस लोक में-भिक्षा का अन्न-भी खा लेना-अच्छा है । (अर्थ-कामान्-गुरून्-हत्वा-तु) धन की कामना वाले-गुरूओं को-मार कर-तो (इह-एव-रुधिर-प्रदिग्धान्-भोगान्-भुञ्जीय) यहां-ही खून से-भरे-हुए-भोगों को खावेंगे ॥२॥

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥५३।२।६॥

(यद्वा-जयेम) या-हम-जीतें, (यदि-वा-नः-जयेयुः) या हमें-वे-जीतें । 'इनमें से' (कतरत्) कौन सी बात (नः-गरीयः) हमारे लिये-श्रेष्ट है (एतत्-न-च-विद्मः) इसे 'भी हम' नहीं जानते । यदि

कहा जावे कि जीत तो अपनी ही अभीष्ट होनी चाहिये, तो इसके उत्तर में अर्जुन कहता है, (यान् हत्वा-न-एव-जिजीविषामः) जिन्हें मार कर-सर्वथा नहीं-जीना चाहते (ते धार्तराष्ट्राः) वे-धृतराष्ट्र के पुत्र (सम्मुखे-अवस्थिताः) सामने खड़े हैं। तात्पर्य यह कि इनको मार कर अपनी जीत भी हमें प्यारी नहीं है ॥५३॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चतं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥५४।२।७॥

(कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः) दया-के-दोष-से-दबे हुए-'क्षात्र' स्वभाव वाला, (धर्म-संमूढ-चेताः) कर्तव्य और अकर्तव्य विषय में-भ्रान्त-चित्त वाला (त्वां पृच्छामि) तुमसे-पूछता हूं। (यत्-श्रेयः-स्यात्) जो-ठीक हो (तत्-मे-निश्चितं ब्रूहि) वह-मुझे-निर्णय किया हुआ-बतलाओ। (अहं-ते शिष्यः) मैं-तेरा-शिष्य हूँ, (मां-त्वा-प्रपन्नं-शाधि) मुझे-तेरी=अपनी-शरण आये हुए को उपदेश करो ॥५४॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम्,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥५५।२।८॥

(भूमौ) पृथिवी पर (असपत्नम्-ऋद्धम-राज्यम्) शत्रुओं से रहित-समृद्ध-राज्य को (च-सुराणाम्-आधिपत्यम्-अपि) और-देवताओं के-प्रभुत्व को (अवाप्य) प्राप्त कर के (यत्) जो 'वस्तु' (इन्द्रियाणाम् उत्-शोषणम्) इन्द्रियों के-सुखाने वाले (मम शोकम्) मेरे-शोक को (अपनुद्यात्) दूर करे 'वह वस्तु' (नहि-प्रपश्यामि) नहीं- देख रहा हूं ॥५५॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥५६।२।९॥

इति श्रीभगवद्गीतायाम् प्रथमोऽध्यायः

संजय बोले—(परन्तपः गुडाकेशः) शत्रुओं को तपाने वाला-'और' नींद को जीतने वाला=अर्जुन (हृषीक-ईशम्-गोविन्दम्) इन्द्रियों के स्वामी-गौवों के धनी—कृष्णको(न-योत्स्ये) नहीं लड़ूँगा (एवम्-उक्त्वा) ऐसा कहकर (तूष्णीम्-बभूव-ह) चुप हो गया ॥५६।

यह श्रीभगवद्गीता का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति

द्वितीय अध्याय

सांख्य योग

अर्जुन के इस निषेध और उसकी दीनता से भरी प्रार्थना को सुन कर, और उसे धर्म संकट के कीचड़ में फंसा जानकर, योगिराज कृष्ण ने उसे धर्म का तत्व सुनाना आरम्भ किया।

अर्जुन के सारे कथन में सार रूप तीन ही समस्याएँ थीं—

१—उसे अपने कुल पुरुषों की निकट भविष्य में होने वाली मृत्यु का शोक सता रहा था।

२—वह अपने गुरुजनों तथा बन्धबान्धवों को मारने में अधर्म समझता था।

३—उसका झुकाव, अपने स्वभाव क्षात्रधर्म के अनुकूल, नियतकर्म, संग्राम को छोड़ कर कर्मसंन्यास की तरफ हो गया था।

अर्जुन की ये ही तीन समस्याएँ हैं,जिनका कि निर्णय सम्पूर्ण गीता में किया गया है। इस अध्याय में पहिले सांख्य योग जड़ चेतन के (विवेक ज्ञान) द्वारा अर्जुन के शोक को दूर करने का यत्न किया गया है। कहा है—जन्म और मृत्यु तो शरीरों के आवश्यक धर्म हैं। जो वस्तु संसार में नहीं है उसकी उत्पत्ति, और जो है उसका नाश कभी नहीं होता। हाँ प्रकृति की वस्तुएँ बहुरूपिया की तरह अनेक रूप अवश्य बदलती रहती है। और ये परिवर्तन तो तुमने शस्त्र उठाया तब भी और न उठाया तब भी अवश्य होंगे ही। यह तो हुई शरीरों की कथा। रह गया शरीर धारण करने वाला आत्मा, सो वह अमर है। एक शरीर से दूसरे

शरीर में जाना भी उसका, पुराने वस्त्र को छोड़कर नया पहन लेने के समान है।

और यदि आत्माको उत्पन्न और नष्ट होने वाला भी मान लें; तो भी जो उत्पन्न होता है, उसका नाश अवश्य होता है, इसलिये उसका भी नाश अवश्य ही होगा। और जबकि यह सारा ही दृश्य जगत् मृत्यु के चुंगल से कभी बच ही नहीं सकता, तो बताओ, शोक किस लिये करते हो।

अर्जुन की दूसरी समस्या का हल महाराज ने इस संग्राम को 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) कह कर एक शब्द से ही कर दिया है। अर्जुन भी महाराज के इस थोड़े से इशारे को सुनते ही इस अंश में अपने पक्ष की निर्बलता को झट समझ गया, और इसी लिये आगे चल कर दूसरी बार उस ने इस विषय को छेड़ा ही नहीं। यथार्थ में अर्जुन के साथियों की ओर से यह संग्राम था भी धर्म के अनुकूल। कारण यह कि कौरवों द्वारा उनके ऊपर किये गये अन्याय और अत्याचार, मर्यादा को देर से तोड़ चुके थे। छल से जुए का खेल, भरी सभा में सती साध्वी द्रौपदी का घोर अपमान.वन को जाते हुए पाण्डवों की घृणित और अपमानजनक खिल्लियें उड़ाना, लाक्षामंडप में उनके जला देने की चेष्टा, वनवास से लौटने पर भी, उनके भाग को भुजा के बल की धौंस देकर दबाए रखना प्रार्थना करने पर भी, बिना युद्ध के सुई के नाके के बराबर भूमि देने तक से इन्कार इन सब और इसी प्रकार के अन्य अत्याचारों को देखते हुए भी पाण्डव. यदि अपराधियों को दण्ड न देते. तो वे अपने क्षात्रधर्म को तिलाञ्जलि देते ही, अपनी आने वाली सन्तान को भी अपने इस आचरण से यह शिक्षा दे जाते, कि, एक क्षत्रिय अपना ग्रास छिनवा कर और अपमान के जूते खा कर भी जीवित रह सकता है।

कहा जा सकता है कि यह आदर्श तो ठीक है, परन्तु गुरुजनों और बन्धु बान्धवों को मारना भी तो पाप है ? नहीं नहीं कदापि नहीं। राजधर्म बड़ा कठोर धर्म है। क्षत्रिय अपने अत्याचारी पुत्र या पिता को भी यदि फांसी के तख्ते पर खड़ा नहीं करता, तो वह घोर पाप का अधिकारी है। इस तथ्य को योगिराज कृष्ण के सामने स्वयम् पिता भीष्म ने स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है-

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित् ॥
म० भा० शा० प० ॥५५।१६॥

अर्थ—हे कृष्ण ! लोभी और नियम को तोड़ने वाले, गुरुओं को भी जो संग्राम में मारता है, वह क्षत्रिय, धर्म को जानने वाला है।

इसी प्रकार उन्होंने युधिष्ठिर को भी कहा है—

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः
नादण्डयो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥
म० भा० शा० प० ॥१२१।६०॥

अर्थ—अपने धर्म पर स्थिर रहने वाले क्षत्रिय के लिये माता, पिता, भ्राता, पत्नी, आचार्य और पुरोहित सब ही को दण्ड देने का विधान है।

इस संग्राम में लोभ के कारण सम्मिलित होना 'अर्थस्य पुरुषो दासः' (पुरुष धन का दास है) इन शब्दों को अपने लिये कह कर, पिता भीष्म और द्रोणाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है। और धन के लिये अन्याय का साथ देना धर्म का उल्लंघन है। इस लिये कृष्ण भगवान् का अर्जुन को यह कहना ठीक ही है कि यह युद्ध 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) है। और इस इतने ही कथन से अर्जुन की दूसरी समस्या का भली भांति हल हो जाता है। अर्जुन की तीसरी समस्या का निर्णय आगे चल कर तीसरे अध्याय से आरम्भ होगा।

द्वितीय अध्याय

सांख्य योग

संजय उवाच

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१।२।१०॥

संजय कहने लगा— (भारत) हे भरत सन्तान = धृतराष्ट्र (हृषीकेशः) कृष्ण (प्रहसन—इव) मुस्कराते हुए (उभयोः सेनयोः-मध्ये-विषीदन्तम्) दोनों-सभाओं के-बीच में-उदास हुए २ (तम् उस—अर्जुन को (उवाच) कहने लगे ॥१॥

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२।२।११॥

श्रीकृष्ण बोले—(त्वम्-अशोच्यान्-अनु-अशोचः) तू-जो शोक के योग्य नहीं उनका-शोक करता है, (च-प्रज्ञा-वादान्-भाषसे) और पण्डिताई के वचन-बोलता है। (पण्डिताः-गतअसून्-च-अगत-असून्) विद्वान् लोग-गए प्राण वालों और-न गए-प्राण वालों का (न-अनु-शोचन्ति) शोक नहीं करते ॥२॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥३।२।१२॥

(न-तु-अहम् जातु-न-आसम्) न तो 'यह बात है कि-मैं-

कभी-नहीं-था । 'और' (न-त्वम्-न-इमे-जन-अधिपाः) न-यह कि-तू-'था'-ये मनुष्यों के-स्वामी=राजा लोग 'कभी नहीं थे' । (वयम्-सर्वे-अतः-परम्-न-भविष्यामः-इति-न-एव) हम-सब-इसके-बाद-न-होंगे-यह 'भी' नहीं है ॥३॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥४।२।१३॥

(देहिनः-अस्मिन्-देहे) शरीरधारी के-इस-शरीर में, (यथा-कौमारम्-यौवनम्-जरा) जैसे बालकपन, जवानी 'और' बुढ़ापा आते हैं (तथा-देहान्तर-प्राप्तिः) उसी तरह-अन्य देह की-प्राप्ति होती है (तत्र) उस विषय में (धीरः-न-मुह्यति) बुद्धिमान्-मोह नहीं करता ॥४॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥५।२।१४॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तिपुत्र ! (शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दा) सर्दी-गर्मी-सुख 'और' दुःख-देने वाले (मात्रा-स्पर्शाः-तु) तत्वों के सम्बन्ध तो (आगम अपायिनः) आने-जाने वाले हैं=अनित्य हैं (भारत) हे भरत सन्तान (तान्-तितिक्षस्व) उनको-सहन कर ॥५॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥६।२।१६॥

(पुरुष-ऋषभ) हे नरश्रेष्ठ ! (एते) ये (सम-दुःख-सुखम्) २ दुःख 'और' ३ सुख में १ समान (यम्-धीरम्-पुरुषम्) जिस बुद्धिमान् पुरुष को (न व्यथयन्ति) नहीं कष्ट देते । (स-अमृतत्वाय-कल्पते) वह-मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥६॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥७।२।१६॥

(असतः) जो नहीं है उसकी (भावः) उत्पत्ति (न-विद्यते) नहीं होती । (सतः) जो है उसको (अभावः) नाश नहीं होता । (तत्वदर्शिभिः) तत्व ज्ञानियों ने (अनयोः-उभयोः-अपि) इन-दोनों का-ही (अन्तः दृष्टः) सिद्धान्त-देखा है । 'तात्पर्य यह कि सब वस्तुएँ सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान् रहती ही हैं, इस लिये शोक किस का ॥७॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥८।२।१७॥

(येन) जिसने (इदम्-सर्वम्-ततम्) यह-सब विस्तार किया है (तम् तु-अविनाशि-विद्धि) उसे-न-नाश होने वाला जान । (अस्य-अव्ययस्य-विनाशम्) इस-अविनाशी का-नाश (कश्चित्-न-कर्तुम्-अर्हति) कोई-नहीं-कर-सकता । "तात्पर्य यह कि जिस आत्मा ने अपने कर्मों की महिमा से इस संसार के उत्पन्न होने में प्रधान कार्य किया है, उसका नाश होता नहीं, इस लिये शोक किसका ॥८॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥९।२।१८॥

(अनाशिनः) नष्ट न होने वाले (अप्रमेयस्य) 'इन्द्रियों के' ज्ञान से दूर (नित्यस्य) नित्य (शरीरिणः) देहधारी के (इमे-देहाः) ये-शरीर (अन्तवन्तः) विनाशी (उक्ताः) कहे हैं 'फिर तो इनका नाश अवश्य होगा' (तस्मात्-युद्धयस्व) इस लिये-युद्ध करो ॥९॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१०।२।१९॥

(यः एनम्-हन्तारम्-वेत्ति) जो-इसे मारने वाला-जानता है। (च-यःएतम्-हतम-मन्यते) और-जो-इसे-मारा हुआ मानता है। (तौ-उभौ-च-विजानीतः) वे-दोनों-नहीं जानते । (न-अयम्-हन्ति-न-हन्यते) न-यह-मारता है, 'और' न मारा जाता है ॥१०॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥११।२।२०॥

(अयम्-कदाचित्-न-जायते-वा-न म्रियते) यह-कभी न-उत्पन्न होता है और-न मरता है । (वा-न-भूत्वा-भूयः-भविता) और न होकर फिर-होगा । 'तात्पर्य यह है कि बार बार उत्पन्न होना और मरना आत्मा का धर्म नहीं है,जन्म और मरण,केवल शरीर के साथ संयोग और वियोग मात्र है, (अयम्-अजः-नित्यः-शाश्वतः-पुराणः) यह-अजन्मा-सदा रहने वाला स्थिर-'और' अनादि है । (शरीरे-हन्यमाने-न हन्यते) शरीर के-मारे जाने पर-नहीं-मरता ॥११॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥१२।२।२१॥

(यः-एनम्) जो-इसे=आत्मा को (अविनाशिनम्-नित्यम्-अजम्-अव्ययम्-वेद) नष्ट न होने वाला-नित्य-अजन्मा-अविकारी-जानता है । (पार्थ-स-पुरुषः-कथम्-कम्-घातयति-कम्-हन्ति) हे पृथा पुत्र ! वह-पुरुष-कैसे-किसे-मरवाता है 'और' किसे मारता है। 'तात्पर्य यह है जो आत्मा को नित्य जानता है, उसके हृदय में मरने और मारने का भाव उठ ही नहीं सकता । वह तो सब कर्मों को कर्त्तव्य समझ कर करता है। युद्ध में भी उसके हृदय में

मरने मारने के विचार न उठेंगे । बल्कि वह इस धर्म को भी कर्त्तव्य समझ कर ही करेगा ॥१२॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥१३।२।२२॥

(यथा-नरः- जीर्णानि-वासांसि-विहाय) जैसे-मनुष्य-पुराने-कपड़ों को-छोड़कर (अपराणि-नवानि-गृह्णाति) और-नये-पहनता है । (तथा-देही-जीर्णानि-शरीराणि-विहाय) वैसे ही-शरीरधारी-पुराने-शरीरों को छोड़कर (अन्यानि-नवानि-संयाति) और-नयों में प्रवेश करता है । 'भाव यह है कि धर्म युद्ध में लड़ने वालों को तो दो अलभ्य लाभ होते हैं, एक तो वे अपने कर्त्तव्य का पालन कर जाते हैं, और दूसरे पुराने शरीर को फेंक कर नया ले लेते हैं। ऐसी अवस्था में जिनके मरने का तुम शोक कर रहे हो, क्या वे घाटे में हैं ?" ॥१३॥

प्रश्न—तो क्या मरने पर इसका कुछ भी नही बिगड़ता आखिर शरीर के कटने पर, जलने पर, इसका भी तो कुछ बिगड़ता ही होगा ?

उत्तर—नहीं, कुछ नहीं बिगड़ता । क्योंकि कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥१४।२।२३॥

(एनम्-शस्त्राणि-न-छिन्दन्ति) इसे-शस्त्र-नहीं-काटते, (एनम पावकः-न-दहति) इसे-अग्नि-नहीं-जलाती, (एनम आपः-न-क्लेद-

यन्ति) इसे-जल-नहीं-गलाता, (च-मारुतः-एनम्-न-शोषयति) और वायु-इसे-नहीं-सुखाता ॥१४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥१५।२।२५॥

(अयम्) यह आत्मा (अव्यक्तः) अप्रकट=दृष्टि से परे (अयम्-अचिन्त्यः) यह-विचार से दूर 'और' (अयम-अविकार्यः) वह विकार से रहित (उच्यते) कहा जाता है (तस्मात्-एनम्) इसलिये-इसे (एवम्-विदित्वा) ऐसा जानकर (अनुशोचितुम्) शोक करना (न-अर्हसि) नहीं चाहिये ॥१५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥१६।२ २६॥

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (च-अथ-एनम्) और-यदि-इसे (नित्य-जातम्-वा-नित्यम्-मृतम्-मन्यसे) नित्य-उत्पन्न होने वाला-और-नित्य-मरने वाला मानते हो (तथा-अपि-त्वम-अनुशोचितुम्-न-अर्हसि) ऐसा होते हुए-भी-तुझे-इस प्रकार-शोक करना-नहीं-चाहिये ॥१६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१७।२।२७॥

(हि-जातस्य-मृत्युः=ध्रुवः) क्योंकि-पैदा होने वाले की मृत्यु निश्चित है । (च-मृतस्य-जन्म-ध्रुवम्) और-मरे हुए की-उत्पत्ति-निश्चित है । (तस्मात्-अपरिहार्ये-अर्थे-त्वम-शोचितुम-न-अर्हसि) इसलिये-न टलने वाले-विषय में तू=तुझे-शोक करना नहीं चाहिये ॥१७॥

ननु—यदि आत्मा के उत्पत्ति और नाश मान लिये जावें; तब तो यह शरीर की रचना में काम आने वाले-भूतों के समान ही हो गया । और यदि ऐसा ही है, तब तो—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥१८।२।२८॥

(भूतानि-अव्यक्त-आदीनि) 'ये' भूत तो-अव्यक्त से=सूक्ष्म प्रकृति से आरम्भ होते हैं (व्यक्त-मध्यानि) २ बीच में १ प्रकट रूप होते है । (अव्यक्त-निधनानि-एव) 'और' २ नाश के समय 'फिर' १ सूक्ष्म अदृश्य ही होते हैं । (तत्र-परिदेवना-का)इस विषय में-शोक-क्या ? 'भूतों' की ये तीन अवस्थाएँ तो अवश्य बदलेंगी ही, फिर इस के लिये शोक क्यों ॥१८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥१९।२।२९॥

'परन्तु यथार्थ में आत्मा भूतों के समान नहीं उनसे विलक्षण हैं । क्योंकि इसे अनुभव करने वालों के ऐसे ही वक्तव्य हैं, (कश्चित्-एनम्-आश्चर्यवत्-पश्यति) कोई-इसे-आश्चर्य-से भरा-'भूतों से विलक्षण' देखता है । (तथा-एव-च-अन्यः-आश्चर्यवत-वदति) वैसे-ही-दूसरा-आश्चर्य से भरा-कहता है । (च-अन्यः-एनम्-आश्चर्यवत्-शृणोति) और-तीसरा-इसे-आश्चर्य से भरा-सुनता है । (च-श्रुत्वा-अपि-एनम्-कश्चित्-न-एव-वेद) और-सुन कर-भी-इसे-कोई ३ जानता २ ही १ नहीं ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२०।२।३०।।

मेरी तो आत्मा के बारे में निश्चित सम्मति यह ही है कि (अयम्-देही-सर्वस्य देहे-नित्यम् अवध्यः) यह आत्मा-सब के-शरीर में-सदा अमर है । (तस्मात्-त्वम्-सर्वाणि-भूतानि शोचितुम-न-अर्हसि) इस लिये-तू=तुझे-सब-प्राणियों का-शोक करना-न-चाहिये ।।२०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।२१।२।३१।।

(च-स्वधर्मम्-अपि-अवेक्ष्य)और-अपने धर्म को-भी देखकर (विकम्पितुम्-न-अर्हसि) डोलना नहीं चाहिये । (हि-क्षत्रियस्य) क्योंकि-क्षत्रिय के लिये (धर्म्यात्-युद्धात्-अन्यत्) धर्मके अनुकूल युद्ध से-दूसरा (श्रेयः) श्रेष्ठ कर्म (न-विद्यति.) नहीं है ।।२१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृत्तम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।२२।२।३२।।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (यदृच्छया-उपपन्नम्) अपने आप हो-प्राप्त हुए (अपावृतम्-स्वर्ग-द्वारम्) खुले हुए स्वर्ग के दर्वाजे, (ईदृशम्-युद्धम) इस प्रकार के-युद्ध को (सुखिनः-पार्थिवाः) सौभाग्य वाले-राजा (लभन्ते) पाया करते हैं ।।२२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।२३।२।३३।।

(अथ-चेत्-त्वम) अब-यदि-तू (इमम्-धर्म्यम्-संग्रामम) इस-धर्म के अनुकूल-संग्राम को (न-करिष्यसि) नहीं-करेगा

(ततः) तो (स्व-धर्मम्-च-कीर्तिम्-हित्वा) अपने-धर्म-और-यश को-त्याग कर (पापम्-अवाप्स्यसि) पाप को प्राप्त करेगा ।।२३।।

अकीर्तिंचापिभूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।२४।२।३४।।

(च-भूतानि-ते) और-लोग-तेरे (अव्ययाम्-अकीर्तिम्-कथयिष्यन्ति) चिरस्थायी-अपयश का-कीर्तन-किया करेंगे (च-सम्भावितस्य-अकीर्तिः) और-माने हुए का-अपयश (मरणात्-अतिरिच्यते) मौत से-बढ़ कर है ।।२४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।२५।२।३५।।

(महारथाः-त्वाम्). महारथी-लोग-तुझे (रणा-भयात्-उपरतम्-मंस्यन्ते) युद्ध-से.डर से-हटा हुआ-समझेंगे (च-त्वम्-येषाम्-बहुमतः-) और-तू जिनको—जिन्होंने-बड़ा माना हुआ है (भूत्वा-लाघवम्-यास्यसि) फिर-उन्हीं की दृष्टि में हलकेपन को प्राप्त करेगा ।।२५।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।२६।२।३६।।

(च-तव-अहिताः) और-तेरे शत्रु (तव-सामर्थ्यम्-निन्दन्तः) तेरी-शक्ति की निन्दा करते हुए (बहून्-अवाच्य-वादान्-वदिष्यन्ति) बहुत से न कहने योग्य-वचन-कहेंगे। (नु) भला (ततः-दुखतरम्-किम्) उससे-अधिक दुःख क्या है ।।२६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।२७।२।३७।।

(वा-हतः-स्वर्गन्-प्राप्स्यसि) यदि-मारा-गया 'तो' स्वर्ग को-प्राप्त करेगा। (वा-जित्वा-महीम्-भोक्ष्यसे) 'और' यदि-जीत-गया 'तो' पृथिवी का- भोग करेगा। (तस्मात्-कौन्तेय) इस लिये हे कुन्तिपुत्र! (युद्धाय-कृत-निश्चयः-उत्तिष्ठ) युद्ध के लिये निश्चय करके उठ ॥२७॥

'यह ऊपर की बात हमने सांसारिक दृष्टि से कही है। तुम जिस भावना के अधिकारी हो, वह यह है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२८।२।३८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः।

सुख-दुःखे-लाभ-अलाभौ-जय-अजयौ-समे-कृत्वा) सुख-दुःख-लाभ-हानि 'और' जय-पराजय को-समान-समझ-कर ततः-युद्धाय-युज्यस्व) फिर-युद्ध के लिये तैयार हो। (एवम्-पापम्-न-अवाप्स्यसि) इस तरह-पाप न-लगेगा ॥२८॥

श्रीमद्भगवद्गीता का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति

तृतीय अध्याय

कर्म योग

अर्जुन की दो समस्याओं का निर्णय महाराज ने दूसरे अध्याय में कर दिया है। उसकी तीसरी समस्या थी 'कर्मसंन्यास' अर्थात् अपने वर्ण-धर्म वर्तमान युद्ध को त्याग कर, भीख मांगकर खा लेने का विचार। कर्म को छोड़ देना चाहिये, या नहीं यह ही एक समस्या है और इसी का निर्णय महाराज ने इस अध्याय में किया है। यदि यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि यह अध्याय एक सूत्र है, और शेष सम्पूर्ण गीता इसका भाष्य है।

महाराज ने कहा, अर्जुन! तुम कर्म का त्याग किस लिये करना चाहते हो। क्या इस लिये कि एक छोटे से भूमि के टुकड़े की इच्छा से बन्धु-बान्धवों की हत्या निन्दित कर्म है। निश्चय ही यह घृणित कर्म है। परन्तु तभी तक, जब तक कि इस कर्म के साथ उस भूमि के टुकड़े को प्राप्त करने की भावना जुड़ी हुई है। तुम्हारे इस संग्राम के लिये ही नहीं, फल की कामना तो किसी भी कर्म के लिये प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि फल की कामना, कर्म के सुन्दर भाग कर्त्तव्य बुद्धि का नाश कर देती है। फल की कामना इसलिये भी निन्दित है कि फल अनेक प्रकार के होते हैं, और उन अनेक फलों के चक्र पर चढ़ी हुई बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। इस लिये कर्म के इस अंश (फल का कामना) का त्याग निश्चय ही आवश्यक है।

अब कर्म के दूसरे भाग पर दृष्टि डालिये। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का परम धर्म है। और यह ही तुम्हारे वर्तमान संग्राम-रूपी कर्म का दूसरा भाग है। इसी का नाम कर्त्तव्य है, और इसी का नाम अभिक्रम (कर्तव्य पालन रूप कर्म) है ।कर्म का यह ही अंश मनुष्य अधिकार की चीज है। हां, तो अर्जुन ! क्या कर्म के इस अंश को भी छोड़ देना चाहिये ? मैं तो कहूँगा कि नहीं, कदापि नहीं,, कर्तव्य का त्याग किसी भी शास्त्र का सिद्धान्त नहीं। कर्म करने में यह ही तो चातुरी है, कि कर्म के केवल कर्तव्य भाग को हाथ में लेकर मनुष्य पाप और पुण्य दोनों से पिण्ड छुड़ा ले। इसलिये अर्जुन! फल की कामना को छोड़ कर फल के मिलने वा न मिलने पर भी समान रहता हुआ, कर्तव्य बुद्धि कर्म करता चल। यह मार्ग साधारण मार्ग नहीं राजमार्ग है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह संसार को पार करता हुआ मोक्ष के द्वार तक-सीधा चला जाता है।

तृतीय अध्याय

कर्म योग

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ; कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।१।२।३९

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (एषा-ते) यह तुम्हे (सांख्ये-बुद्धिः-अभिहिता) आत्मा और अनात्मा के विवेक के विषय में ज्ञान का उपदेश किया। (योगे-तु-इमाम-श्रृणु) 'अब' कर्मयोग के आधार पर-भी-इस 'आगे के ज्ञान को सुन (यया-बुद्ध्या-युक्तः) जिस-ज्ञान से-युक्त हुआ हुआ (कर्मबन्धम् प्रहास्यसि) कर्म के 'पाप-पुण्य रूप' बन्धन को तोड़ देगा ॥१॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।२। २।४०

(इह-अभिक्रम-नाशः-न-अस्ति) इस मार्ग में-कर्तव्य-का-त्याग-नहीं-है, (प्रत्यवायः-न-विद्यते) 'और' पाप-नहीं-है। (अस्य-धर्मस्य-स्वल्पम्-अपि) इस-धर्म का थोड़ा भाग-भी (महतः-भयात्-त्रायते) बड़े-भय-से-रक्षा-करता है ॥२॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा अनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥३।२।४१॥

(कुरुनन्दन) हे कुरुपुत्र ! (इह-बुद्धिः-व्यवसाय आत्मिका) यहां कर्मयोग मार्ग में-निश्चय-रूप (एका-बुद्धिः) एक ही बुद्धि=

बुद्ध की वृत्ति है । 'अनेक फलों की कामना होने के कारण' (अव्यवसायिनाम्) अनिश्चित मति वालों की (बुद्धयः) बुद्धि की वृत्तियें (बहुशाखा) 'फलों की' अनेक शाखाओं में बँटी हुई (च) और (अनन्ताः) अनेक होती हैं ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४।२।४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥५।२।४३॥

(पार्थ) हे पृथा पुत्र ! (कामात्मनः) कामनाओं में तन्मय हुये २ (स्वर्ग-पराः) स्वर्ग को ध्येय समझने वाले (वेद-वाद-रताः) 'कर्मकाण्ड रूप' वेद के-वचनों में-मस्त रहने वाले 'परन्तु वेद के सार को न जानने वाले, और इसलिये' (अन्यत्-न-अस्ति-इति-वादिनः) 'सकाम कर्म से' भिन्न-और कुछ' नहीं-है यह कहने वाले। (अविपश्चितः) अविद्वान् (जन्म-कर्म-फलप्रदाम्) जन्म और कर्मफल को-देने वाली (क्रिया-विशेष-बहुलाम्)२ विशेष-१क्रियाओं के-विस्तार वाली (भोग-ऐश्वर्य-गतिं-प्रति) भोग 'तथा' ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली (इमाम्-पुष्पिताम् वाचम्) इस-मनोहर 'सकाम कर्म रूप' वाणी को (प्रवदन्ति) बलपूर्वक कहते हैं ॥४॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥६।२।४४॥

(तया) उस 'सकाम कर्म की विधि' से (अपहृत-चेतसाम्) खिंचे चित्त वाले (भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्) भोग-'और' ऐश्वर्य में लगे-हुए 'मनुष्यों की' (व्यवसाय-आत्मिका-बुद्धिः) निश्चय रूप-

बुद्धि को वृत्ति (समाधौ-न-विधीयते) एकाग्रता में उपयोगी नहीं होती ॥६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥७।२।४७॥

'इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धि को निश्चल करने के लिये फल की कामना का परित्याग कर दे । और इस लिये भी फल की कामना न कर, कि यह तेरे अधिकार की चीज नहीं है । (ते-कर्मणि-एव-अधिकारः) तेरा-कर्म करनेमें-ही अधिकार है (फलेषु-कदाचन-न) फलों पर-कभी भी-नहीं । 'इसलिये तेरा'(कर्म-फलहेतु-मा-भूः) कर्म-फल प्राप्ति के-निमित्त से-न हो । (ते-सङ्ग-अकर्मणि-मा-अस्तु) 'और' तेरा-लगाव-कर्म के त्याग से न हो ॥७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योगउच्यते ॥८।२।४८॥

(धनञ्जय) हे धनको जीतने वाले=अर्जुन ! (सङ्गम्-त्यक्त्वा) फल की आसक्ति को-छोड़ कर (सिद्धि-असिद्धयोः-समः-भूत्वा) फल की 'प्राप्ति-'और' अप्राप्ति में-समान-रह कर (योगस्थः) 'सम भावना' के योग में स्थिर होकर (कर्माणि-कुरु) कर्म कर । (समत्वम्-योगः-उच्यते) 'इस' समता को ही-योग कहा है ॥८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥९।२।४९॥

(धनंजय)!हे धनञ्जय ! (कर्म) सकाम कर्म (बुद्धिःयोगात्) समत्व बुद्धि 'नामक' योग से (दूरेण-अवरम्। बहुत ही-छोटा है। 'इस लिये'(बुद्धौ) समता की बुद्धि में (शरणम्-अन्विच्छ) आश्रय

ढूंढ। (फल-हेतवः) फल को-निमित्त मानने वाले (कृपणाः) दया के पात्र हैं—छोटी श्रेणी के लोग हैं ॥६॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम ॥१०।२।५०॥

(इह-बुद्धि-युक्तः-सुकृत-दुष्कृते-उभे-जहाति) यहां पर-साम्य बुद्धि=ज्ञान और कर्म में समानता के भाव से-युक्त 'पुरुष' पुण्य 'और' पाप-दोनों को-छोड़ देता है,'अर्थात् दोनोंसे छूट जाता है।' (तस्मात्-योगाय-युज्यस्व) इसलिये-योग के लिये-तत्पर हो। (कर्मसु-कौशलम्-योगः) कर्म करने में-चतुराई—'फल की कामना को छोड कर कम करना ही' योग है ॥१०॥

कर्मजं बुद्धियुक्तां हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥११।२।५१॥

(बुद्धि-युक्ताः-मनीषिणः-कर्मजम्-फलम-त्यक्त्वा) साम्य बुद्धि वाले=बुद्धिमान् लोग-कर्म से होने वाले फल को छोड़ कर (जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः) जन्म के-बन्धन से-छूटे हुए (अनामयम्-पदम्-गच्छन्ति) रोग से रहित-स्थान='मोक्ष' को प्राप्त होते हैं ॥११॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥१२।२।५२॥

[यदा-ते-बुद्धि] जब-तेरी-बुद्धि [मोह-कलिलम्-व्यतित-रिष्यति] मोह के-कीचड़ से-पार हो जावेगी। [तदा-श्रोतव्यस्य-च-श्रुतस्य] तब-आगे सुनने वाले-और-सुने हुए 'सकाम कर्म से' [निर्वेदम्] वैराग्य को [गन्तासि] प्राप्त करेगा ॥१२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥१३।२।५३॥

[श्रुति विप्रतिपन्ना] श्रुति के प्रश्नोत्तर से विचलित हुई २ [ते बुद्धिः] तेरी बुद्धि [यदा] जब [समाधौ] निरोध में [निश्चला-अचला] अचल-स्थिर [स्थास्यति] ठहर जावेगी। [तदा] तब [योगम्-अवाप्स्यसि] योग को प्राप्त करेगा।

श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति

चतुर्थ अध्याय

स्थितप्रज्ञ का लक्षण

तृतीय अध्याय में महाराज ने स्थिरबुद्धि की प्रशंसा की थी, और उसे कर्मयोग का सहायक बतलाया था। उसकी विशेषताओं को जानने की अर्जुन को जिज्ञासा हुई, और उसने प्रश्न किया कि महाराज जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई हो, उस मनुष्य का बोलना उठना, बैठना और चलना फिरना किस प्रकार का होता है।

इस का उत्तर देते हुए महाराज ने, कामनाओं का त्याग, सन्ताप, दुःख और सुख में एक रस रहना, राग, भय और क्रोध का त्याग, शुभ और अशुभ किसी में भी लिप्त न होना, इन्द्रियों का दमन, प्रेम और द्वेष का त्याग ये सब स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के विशेष गुण बतलाये और आगे चल कर इस अवस्था को प्राप्त करने के साधनों का वर्णन किया है। इन साधनों को यहां पर दो भागों में बांटा गया है। उनमें से एक है विषयों का सर्वथा त्याग, और दूसरा राग-द्वेष रहित इन्द्रियों से विषय का सेवन।

इनमें से पहिला साधन, प्रथम तो है ही बड़ा कठिन। और फिर यदि किसी प्रकार उसका अनुष्ठान किया भी जावे तो, अन्तःकरण का धर्म, रस (राग) फिर भी शेष रह जाता है। क्योंकि राग को दूर करने की अभी तक कोई चेष्टा की ही नहीं गई! अब इस राग की निवृत्ति कहीं भगवान् का दर्शन होने पर ही होगी। परन्तु भगवान् का दर्शन रागके होते हुए होना कठिन है। इसलिये

भगवान् का दर्शन करने के लिये विषयों का त्याग करने पर भी विषय के राग को मिटाने के लिये यत्न करना ही पड़ेगा। हाँ दूसरा साधन सरल है, और उसका क्रम भी ठीक है। और इसीलिये महाराज ने भी इसे अन्त में लिखा है। राग और द्वेष को त्याग कर विषयों का सेवन करने से विषयों में उपेक्षा होनी आरम्भ हो जाती है। और राग तथा द्वेष के साथ-साथ विषयों का संग भी छूट जाता है। महाराज ने कहा है कि इस साधन से; चित्त निर्मल होता है, दुःख छूटते हैं और बुद्धि स्थिर होती है। बुद्धि की स्थिरता केवल राग द्वेष छोड़कर विषयों के सेवन से ही नहीं हो जाती। इसके लिये योग की, योग के लिये चित्त की शान्ति की, और शान्ति के लिये कामनाओं के त्याग की भी आवश्यकता है। इसके बाद जो स्थिति प्राप्त होती है, उसी का नाम, स्थिर-बुद्धि और ब्राह्मी-स्थिति है। इस स्थिति में पहुंचे हुए मनुष्य को ही स्थित-प्रज्ञ कहते हैं। इसी अध्यायमें तीसरी अवस्था लिखी है राग और द्वेष के साथ विषयों के सेवन की। और इस अवस्था को मनुष्य के सर्वनाश का कारण बतलाया है।

आर्य जतिन द्विवेदी

चतुर्थ अध्याय

कर्म योग

(स्थितप्रज्ञ का लक्षण)

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥१॥२।५४॥

अर्जुन ने कहा—हे केशव ! (समाधिस्थस्य) चित्त को एकाग्र करने वाले (स्थितप्रज्ञस्य) स्थिर बुद्धि वाले 'मनुष्य' का (का भाषा) क्या लक्षण है। (स्थितधीः) स्थिर बुद्धि वाला (किम्-प्रभाषेत) क्या बोलता है, (किम्-आसीत) कैसे बैठता है, (किं व्रजेत) कैसे चलता है ॥१॥

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२।२।५५॥

श्री भगवान् ने कहा—(पार्थ) हे पृथा पुत्र ! (आत्मना आत्मनि-एव-तुष्टः) अपने आप से-अपने आप में-ही-प्रसन्न हुआ (यदा मनोगतान्) जब-मन में-होने वाले (सर्वान्-कामान्) सब-संकल्पों को (प्रजहाति) छोड़ देता है। (तदा-स्थित प्रज्ञः-उच्यते) तब-स्थिर-बुद्धि वाला कहा जाता है ॥२॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥३॥२।५६॥

(दुःखेषु-अनुद्विग्न-मनाः) दुःखों में-न-उखड़ने वाले=स्थिर-चित्त वाला, (सुखेषु) सुखों के समब (विगत-स्पृहः) = आसक्ति से १ रहित, (वीत-राग-भय-क्रोधः) २ राग-३ भय और ४ क्रोध को-दूर करने वाला (मुनिः) मननशील 'मनुष्य' स्थितधीः) स्थितप्रज्ञ (उच्यते) कहलाता है ॥३॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥४।२।५७॥

(यः सर्वत्र-अनभिस्नेहः) जो-सब जगह-स्नेह से रहित है (तत्-तत्-अशुभम्-प्राप्य) उस-उस-मंगल 'और' अमंगल को प्राप्त करके (न-अभिनन्दति-न-द्वेष्टि) न-प्रसन्न होता है-'और' न-द्वेष करता है, (तस्य-प्रज्ञा-प्रतिष्ठिता) उसकी-बुद्धि-स्थिर है ॥४॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५॥२।५८॥

(यदा-अयम्-सर्वशः) जब यह-सब ओर से, (अंगानि-कूर्मः-इव) अंगों को कछुवे की-तरह (विषयेभ्यः-इन्द्रियाणि) विषयों से-इन्द्रियों को (संहरते) खींच लेता है, 'तब' (तस्य-प्रज्ञा-प्रतिष्ठिता) उसकी=इसकी-बुद्धि-स्थिर होती है ॥५॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥६।२।५९॥

(निराहारस्य-देहिनः) भोजन छोड़ देने वाले-मनुष्य के (विषयाः) विषय (रस-वर्जम्) विषयों की चाह=राग को छोड़

कर (विनिवर्तन्ते) लौट जाते हैं। (अस्य-रसः-अपि) इसका राग-भी (परम्-दृष्ट्वा) भगवान् के-दर्शन होने पर (निवर्तते) हट जाता है ॥६॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥७।२।६२॥

(विषयान्-ध्यायतः-पुंसः) विषयों का-चिन्तन करते हुए-पुरुष की (तेषु-संगः-उपजायते) उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। (संगात् कामः-संजायते) आसक्ति से-राग-उत्पन्न हो जाता है। (कामात्-क्रोधः-अभिजायते) राग से-क्रोध-उत्पन्न हो जाता है ॥७॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥८।२।६३॥

(क्रोधात्-सम्मोहः-भवति) क्रोध से अविवेक–होता है। (सम्मोहात्-स्मृति-विभ्रमः) अविवेक से-स्मृति में विकार (स्मृति-भ्रंशात्) स्मृति के-नाश से (बुद्धि-नाशः) बुद्धि का नाश 'और' (बुद्धि-नाशात्) बुद्धि के-नाश से (प्रणश्यति) नष्ट हो जाता है ॥८॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥९।२।६४॥

(राग-द्वेष-वियुक्तैः) राग 'और' द्वेष से-पृथक् की हुई-(आत्म-वश्यैः) 'और' अपने–वश में की हुई (इन्द्रियैः) इन्द्रियों से (विषयान्-चरन्) विषयों का सेवन करता हुआ, (विधेय-आत्मा) विनीत-आत्मा (प्रसादम्-अधिगच्छति) निर्मलता को प्राप्त करता है ॥६॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥१०।२।६५॥

(प्रसादे) निर्मल होने पर (अस्य-सर्व-दुःखानाम) इस के-सब-दुःखों का (हानिः-उपजायते) नाश हो जाता है। (हि-प्रसन्न-चेतसः) और-निर्मल चित्त वाले की (बुद्धिः-आशु-पर्यवतिष्ठते) बुद्धि-जल्दी-स्थिर हो जाती है ॥१०॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥११।२।६६ ॥

(अयुक्तस्य) योगयुक्त न होने वाले की (बुद्धिः-नास्ति) 'स्थिर' बुद्धिः-नहीं होती। (च-अयुक्तस्य-भावना न) योगयुक्त न होने वाले की-साम्य भावना 'भी' नहीं होती' (च-अभावयतः-शान्तिः न) और-'समता' का भाव न रखने वाले को-शान्ति नहीं (अशान्तस्य-सुखम्-कुतः) अशान्त को-सुख कहां से ॥११॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥१२।२।७०॥

(आपूर्यमाणम्) पूर्ण हुए २ (अचल-प्रतिष्ठम्) निश्चल-स्थिति वाले (समुद्रम्-यद्वत्-आपः-प्रविशन्ति) समुद्र में जिस प्रकार-जल-प्रवेश करते हैं। (तद्वत्-यम्-सर्वे-कामाः-प्रविशन्ति) उसी प्रकार-जिसमें-सब-कामनाएँ-समाप्त हो जाती हैं – अर्थात् जिस की सब कामनाएँ समाप्त हो जाती है। (सः-शान्तिम्-

आप्नोति) वह-शान्ति को-प्राप्त करता है (काम-कामी-न) कामनाओं का-चाहने वाला नहीं ॥१२॥

विहाय कामान्यः सर्मान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिमच्छति ॥१३।२।७१॥

(यः-पुमान्-सर्वान्-कामान्-विहाय) जो-पुरुष-सब कामनाओं को-छोड़कर (निःस्पृहः-निर्ममः-निरहङ्कारः) इच्छा से रहित-ममता से रहित 'और' अहंकार से रहित होकर (चरति) विचरता है (सःशान्तिम् अधिगच्छति) वह-शान्ति को-प्राप्त करता है ॥१३॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१४।२।७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (एषा-ब्राह्मी-स्थितिः यह ब्रह्म निष्ठा = 'कर्मयोग की अन्तिम अवस्था' है । (एनाम्-प्राप्य-न-विमुह्यति) इसे प्राप्त करके-२ मोहित-१ नहीं होता । (अन्तकाले-अपि) मृत्यु-के-समय-भी (अस्याम्-स्थित्वा) इस 'स्थिति' में-रह कर (ब्रह्म-निर्वाणम्) ब्रह्म-प्राप्ति का (ऋच्छति) लाभ करता है ॥१४॥

श्रीमद्भगवद्गीता का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

— —

सार और संगति

पंचम अध्याय

कर्म-संन्यास की आवश्यकता

तृतीय अध्याय के नवें श्लोक में महाराज ने साम्य बुद्धि को सकाम कर्म से श्रेष्ठ कहा था । महाराज के इस वचन में अर्जुन को अपने विचार के लिये कुछ आश्रय मिलता दिखाई दिया । और इसीलिये उसने कह दिया कि, महाराज ! यदि आप कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे भी इस संग्राम के घोर कर्म को छोड़कर बुद्धि की शरण में ही जाने दीजिये । और यदि ऐसा नहीं है तो निश्चय करके एक बात बतलाइये ।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने कहा कि, अर्जुन ! सांख्यों के ज्ञान-योग और योगियों के कर्मयोग का वर्णन हमने पहिले किया है । महाराज का इस कथन से तात्पर्य यह था कि इन दोनों ही निष्ठाओं के आधार पर हम पहले कर्म करने का उपदेश दे आये हैं, कर्म के त्याग का नहीं । जिसने साम्य बुद्धि प्राप्त कर ली हो उस ज्ञानी को भी कर्म करने ही पड़ते हैं । मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । क्योंकि उस के मानसिक भाव उससे डण्डे के बल से काम कराते रहते हैं । यह हो सकता है कि कोई बाह्य इन्द्रियों को हठ से कर्म करने से रोक दे, परन्तु फिर भी मन से उन कर्मों का चिन्तन अवश्य होता ही रहेगा ।

और यह इस प्रकार का दोरंगा कर्म, लोक दिखावा है, मिथ्याचार है । बिना कर्म किये तो शरीर का निर्वाह चलना भी कठिन है । इसलिये शरीर के रहते हुए कर्म का त्याग असम्भव है । इसकी अपेक्षा तो यह अच्छा है कि मन से ज्ञान इन्द्रियों को रोकता हुआ, आसक्ति छोड़कर, कर्म इन्द्रियों से वर्ण और आश्रम के अनुकूल नियत कर्म करता चल ।

पंचम अध्याय

कर्म योग

कर्म-संन्यास की अशक्यता

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१।३।१॥

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन ! (चेत्-ते-कर्मणः-बुद्धिः-ज्यायसी-मता) यदि-तुम्हें-कर्म से-बुद्धि श्रेष्ठ-अभीष्ट है ! (तत्-माम्-घोरे-कर्मणि) तो मुझे-'संग्राम के' भयंकर कर्म में (किम् नियोजयसि) क्यों लगाते हो ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२।३।२॥

(व्यामिश्रेण-इव) मिले हुए-जैसे=दुरंगे (वाक्येन) वचन से (मे-बुद्धिम्) मेरी-बुद्धि को (मोहयसि-इव) भ्रान्त सी कर रहे हो । (तत्-एकम्-निश्चित्य-वद) सो एक निश्चय करके-कहो (येन-अहम्-श्रेयः-आप्नुयाम्) जिससे-मैं कल्याण को-प्राप्त करूं ।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेनयोगिनाम् ॥३।३।३॥

श्रीकृष्ण ने कहा—(अनघ) हे निष्पाप ! (पुरा-मया) पहिले मैंने (अस्मिन्-लोके) इस-जगत् में (सांख्यानाम्-ज्ञान-योगेन) सांख्यों की-ज्ञान योग से (योगिनाम्-कर्म-योगेन) 'और' योगियों की-कर्म योग से (द्विविधा-निष्ठा) दो प्रकार की निष्ठा (प्रोक्ता) कही है ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४।३।४॥

(पुरुषः-कर्मणाम्-अनारम्भात्) पुरुष-कर्मों के-आरम्भ न करने से (नैष्कर्म्यम्-न-अश्नुते) कर्म के अभाव को-नहीं-प्राप्त करता । (च-न-संन्यसनात्-एव) और-न-कर्म के त्याग से-ही (सिद्धिम्-समधिगच्छति) सिद्धि को प्राप्त करता है ॥४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५।३।५॥

(हि कश्चित्-क्षणम्-अपि) क्योंकि-कोई-पल-भी (अकर्मकृत्) कर्म किये बिना (न-तिष्ठति) नही-रहता । (सर्वः-प्रकृतिजैः-गुणैः) सब को-स्वभाव के-गुणों द्वारा (अवशः-कर्म-कार्यते) विवश कर्म कराये जाते हैं ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६।३।६॥

(य.-विमूढ-आत्मा) जो-भ्रान्त-आत्मा (कर्म-इन्द्रियाणि संयम्य) कर्म-इन्द्रियों को-रोक कर (इन्द्रिय-अर्थान्-मनसा-स्मरन् आस्ते) इन्द्रियों के-विषयों का-मन से-चिन्तन करता रहता है स-मिथ्या-आचारः-उच्यते,वह असत्य-आचार वाला कहलाता है

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७।३।७॥

(तु-यः) परन्तु-जो (इन्द्रियाणि-मनसा-नियम्य) इन्द्रियों को-मन से-रोक कर (कर्म-इन्द्रियैः-कर्म-योगम्) कर्म-इन्द्रियों से-कर्मयोग का (असक्तः) आसक्ति को छोड़ कर (आरभते) आरम्भ करता है। हे अर्जुन! 'कर्म का आरम्भ करने वालों, और कर्म छोड़ने वालों से' (सः-विशिष्यते) वह बढ़ जाता है ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८।३।८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पंचमोऽध्यायः ।

(त्वम्-नियतम्-कर्म-कुरु) तू-नियत='यज्ञ, दान, तप और वर्ण तथा आश्रम के लिये विहित' (कर्म-कर) हि-अकर्मणः-कर्म-ज्यायः) क्योंकि-कर्मत्याग से-कर्म श्रेष्ठ है। (अकर्मणः) बिना कर्म के (ते-शरीरयात्रा) तेरे-शरीर का-निर्वाह (अपि-न-प्रसिद्ध्येत्) भी-नहीं-सिद्ध होगा—चलेगा ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीता का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

षष्ठ अध्याय

यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता

पांचवें अध्याय में कर्म के त्याग को असम्भव बतलाते हुए आसक्ति छोड़ कर निष्काम कर्म करने की प्रेरणा की गई थी। इस पक्ष के विरोध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि कर्म के फल का त्याग भी तो सहसा होना कठिन है, इसके लिये भी कोई क्रम होना चाहिये। फल के सर्वथा त्याग से पहले किसी ऐसे त्याग का सूत्रपात होना चाहिये, जिसमें कि फल की कोई मात्रा मिली हुई हो। इसी सम्भावित प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा है कि ऐसी अवस्था में, यज्ञ के लिये (परोपकार भावना से अथवा परस्पर सहायता की भावना से) कर्म करने चाहियें। भगवान् ने प्रजा को उत्पन्न करते हुए, सृष्टि के आरम्भ में ही. इस सहयोग के यज्ञ को जन्म दिया है। भगवान् की रचना में, पृथिवी, जल, अग्नि, सूर्य आदि सब ही देवता, एक दूसरे को सहायता करते हुए संसार की रचना में भाग ले रहे हैं। भगवान् के इस व्यावहारिक, तथा वेद के द्वारा वाचिक उपदेश के अनुसार, मनुष्य भी यदि इन देवताओं की सहायता से मिली हुई, अन्न आदि सामग्री से इनकी शुद्धि, और अपने से निर्बल प्राणियों की सहायता करे तब तो ठीक है। और यदि वह ऐसा नहीं करता तो, नियम का भंग करने वाला है, पापी है, चोर है। यज्ञ से ही मेघ की और मेघ से अन्न आदि की उत्पत्ति होती है। और यज्ञ बिना कर्म के होता नहीं। इसलिये सर्वथा फल के त्याग में अशक्त पुरुष को यज्ञ के लिये कर्म करना चाहिये। इस कर्म से फल कामना की कुछ गन्ध तो अवश्य आ रही है। परन्तु मनुष्य को कर्म में लगाने का प्रधान कारण यह लोकहित की भावना ही है। और यह भावना ही उसे एक दिन सर्वथा फल के त्याग का अधिकारी बना देगी। यह भावना भी कर्म बन्धन से छुड़ाने का साधन है।

षष्ठ अध्याय

कर्म योग

(यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥१।३।९॥

(यज्ञ-अर्थात्) यज्ञ के निमित्त=लोकहित की कामना से किये गये (कर्मणः-अन्यत्र) कर्म के बिना (अयम् लोकः) यह संसार= प्राणियों का समुदाय, (कर्म-बन्धनः) कर्मों से बांधा जाता है (कौन्तेय) हे कुन्तीपुत्र ! (तदर्थम्) उसके लिये— यज्ञ के लिये (मुक्तसङ्गः) आसक्ति छोड़ कर (कर्म-समाचार) कर्म कर ॥१॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥२।३।१०॥

(पुरा) सृष्टि के आरम्भ में (प्रजापतिः) परमात्मा 'ने' (सह-यज्ञाः) २ यज्ञों के १ सहित (प्रजाः-सृष्ट्वा) प्रजा को-उत्पन्न करके (उवाच) कहा । (अनेन) इससे (प्रसविष्यध्वम्) बढ़ो । (एष) यह (यः इष्ट-कामधुक्) तुम्हारी-वाञ्छित-कामनाओं का पूर्ण करने वाला (अस्तु) हो ॥२॥

विशेष—भगवान् ने सृष्टि को 'जीव मुक्ति के आनन्द की ओर आगे बढ़ें, और अपने कर्मों का फल प्राप्त कर सकें' इसे, प्राणियों के हित की कामना से उत्पन्न किया हैं । और इस प्रकार का परोपकार की भावना को जन्म देना ही, सृष्टि के आरम्भ में

एक प्रकार के यज्ञ की उत्पत्ति है । और इसीलिये लोकहित का सम्पादन करने वाले यज्ञ ही इस प्रकरण में यज्ञ के नाम से कहे गये हैं । सब प्राणियों के लिये हित कारक देवयज्ञ का इस प्रकरण में उदाहरण के रूप में दिखलाना भी इसी भाव को पुष्ट कर रहा है ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥३।३।११॥

(अनेन) इस=यज्ञ से (देवान्-भावयत) 'जल, वायु, अग्नि आदि' देवताओं का-संस्कार करो । (ते-देवाः) वे 'शुद्ध' देवता (वः-भावयन्तु) तुम्हें-बढ़ावें । (परस्परम्-भावयन्तः) एक दूसरे की शुद्धि तथा वृद्धि करते हुए (परम्-श्रेयः) उत्तम-कल्याण को (अवाप्स्यथ) प्राप्त करोगे ॥३॥

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥४।३।१२॥

(यज्ञ-भाविताः) यज्ञ से-शुद्ध किये हुए (देवाः-वः-इष्टान्-भोगान्-दास्यन्ते) देवता-तुम्हें-प्रिय-भोग-देंगे । (तैः-दत्तान्) उनके दिये हुओं को, (एभ्यः) उन्हें (अप्रदाय) 'यज्ञ के द्वारा' न देकर (यः-भुंक्ते) जो-खाता है । (सः-स्तेन-एव) वह-चोर ही है ॥४॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥५।३।१३॥

(यज्ञ-शिष्ट-आशिनः) यज्ञ से-बचे हुवे को-खाने वाले (सन्तः) होते हुए (सर्व-किल्बिषैः) सब-पापों से (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं । (ते-पापाः-तु) वे-पापी-तो अघम्-भुञ्जते) पाप-खाते है (ये-आत्म-करणात) जो-अपने 'ही' लिये (पचन्ति) पकाते हैं ॥५॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥६।३।१४॥

(अन्नात्-भूतानि-भवन्ति) अन्न से-प्राणी-उत्पन्न होते हैं। (पर्जन्यात्-अन्न-सम्भवः) मेघ से-अन्न की उत्पत्ति है । (यज्ञात्-पर्जन्यः-भवति) यज्ञ से-मेघ-होता है (यज्ञः-कर्म-समुद्भवः) और यज्ञ-कर्म से-सिद्ध होता है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्स 'गतं ब्रह्म नित्यं यज्ञेप्रतिष्ठितम् ॥७।२।१५॥

(कर्म-ब्रह्म-उद्भवम) कर्म को-वेद से-प्रकट होने वाला (विद्धि) जान । (ब्रह्म-अक्षर-समुद्भवम्) 'और' वेद-अविनाशी= परमात्मा से-प्रकट हुए हैं। (तस्मात्) इसलिये (सर्व-गतम्) सर्वत्र-होने वाला (ब्रह्म) वेद-ज्ञान (यज्ञे-नित्यम्-प्रतिष्ठितम्) यज्ञ में-सदा-मान्य है 'वेद के विधान के अनुसार ही यज्ञ होने चाहिये' ॥७॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥८।३।१६॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (एवन्-प्रवतितम्-चक्रम्) इस प्रकार-चलाये हुए-चक्र को (यः-इह) जो-यहां (न-अनुवर्तयति) नहीं चलाता है । (अघ-आयु;) पापमय-जीवनधारी (इन्द्रिय-आरामः) इन्द्रिवों में रत, (सःमोघम्-जीवति) वह-व्यर्थ-जीता है ।

यह श्रीभगवद्गीता का छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

———

मार और संगति

मप्तम अध्याय

ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता

जो पुरुष फल का त्याग पूर्णतया नहीं कर सकता, जो ज्ञानी नहीं, उसके लिये लोकहित की कामना से कर्म करने का उपदेश छठे अध्याय में किया गया । परन्तु जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया, भगवान् के दर्शन कर लिये, अपने आप में प्रसन्न है, न उसका कोई कर्तव्य शेष रहा, और न किसी वस्तु के ग्रहण करने की उसे आवश्यकता है। क्या उसज्ञानी को भी कर्म करने ही चाहियें

इस प्रश्न के उत्तर में महाराज कहते हैं कि, हां अवश्य, उसे भी आसक्ति छोड़कर कर्म करने ही चाहियें। आसक्ति छोड़कर किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता । जनक जैसे ज्ञानियों ने जीवन मुक्त होने के बाद भी कर्म को नहीं छोड़ा, और उनके मार्ग में कोई बाधा भी उपस्थित नहीं हुई ।

ज्ञानी को तो अज्ञानियों कों कर्म में लगाये रखने के लिये भी कर्म करने चाहियें । निष्काम कर्म करने से तो ज्ञानी की कोई हानि होती नहीं । परन्तु यदि यह कर्म छोड़ दे तो अज्ञानी भी उसे देखकर कर्म छोड़ देंगे, और वे कही भी न रहेंगे । क्योंकि ज्ञान के न होने से कर्म के बिना सुमार्ग की ओर जाने का उन के लिये और कोई उपाय ही नहीं है। हां यह अवश्य है कि अपने गुणों के अनुसार वे आसक्त होकर कर्म करेंगे। परन्तु करेंगे तो सही. कुकर्म या अकर्म में तो न फँसेंगे । शनैः शनैः उनके स्वभाव में कर्मों के द्वारा परिवर्तन लाने की आवश्यकता है उनसे कर्म छुड़ाने की नहीं । ज्ञानी भी तो स्वभाव बदलने के बाद ही कर्म से आसक्ति को दूर कर सका है । देखिये तुम्हारे सामने ही खड़ा हुआ मैं भी तो ज्ञानी होता हुआ भी आसक्ति छोड़कर कर्म कर ही रहा हूँ । अर्जुन अब तुम समझ गये होगे कि ज्ञानी के लिये भी कर्म आवश्यक है ।

सप्तम अध्याय

कर्म योग

ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१।३।१७॥

(तु-यः-मानवः) परन्तु जो-मनुष्य (आत्म-रतिः) आत्मा में ही-आसक्त=अधिक राग रखने वाला, (आत्म-तृप्तः) आत्मा में ही-तृप्त (च-आत्म-संतुष्टः) और-अपने आप में ही-प्रसन्न रहने वाला है। (तस्य-कार्यम्-न-विद्यते) उसका कर्तव्य शेष नहीं रहा ॥१॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥२।३।१८॥

(इह-न-तस्य-कृतेन) यहां-उसके-कर्म से (न-एव-अकृतेन) 'और' न-ही-कर्म न करने से (कश्चन-अर्थः) कोई-प्रयोजन है। (च-न-अस्य) और-न इसका (सर्व-भूतेषु) सब-भूतों में (कश्चित-अर्थ-व्यपाश्रयः) कोई-प्रयोजन का आधार है ॥२॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३।३।१९॥

'क्योंकि ज्ञानी को प्रयोजन न होते हुए भी नियत कर्म करने ही चाहियें' (तस्मात्) इस लिये (असक्तः) आसक्ति छोड़कर (सततम्) निरन्तर (कार्यम्-कर्म-समाचार) कर्तव्य-कर्म का अनुष्ठान कर। (हि-पुरुषः) क्योंकि-पुरुष (असक्तः-कर्म-आचरन्) आसक्ति छोड़ कर कर्म-करता हुआ (परम्-आप्नोति) परमात्मा-को प्राप्त कर लेता है ॥३॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥४॥३।२०॥

(हि-जनकादयः) क्योंकि जनक आदि (कर्मणा-एव-संसिद्धिम् आस्थिताः) कर्म से-ही सिद्धि को-प्राप्त हुए हैं। 'इस लिये' (लोक-संग्रहम्) लोगों के साथ लेने को (सम्पश्यन्) ध्यान-में रखते हुए भी (कर्तुम्-अर्हसि) 'कर्म' करना-योग्य है ॥४॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥५।३।२१॥

(श्रेष्ठः-यत्-यत् आचरति) श्रेष्ठ 'पुरुष' जो-जो-आचरण करता है, (इतरः-जन-तत्-तत्-एव) और लोग वह-वह ही 'आचरण करते हैं'। (स-यत्-प्रमाणम्-कुरुते) वह जितना-करता है, (लोकः-तत्-अनुवर्तते) संसार-उसका अनुसरण करता है ॥५॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥६।३।२२॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र! (मे-त्रिषु-लोकेषु) मेरा-तीनों-लोकों में (किंचन कर्तव्यम्) कुछ कर्तव्य (न-अस्ति) नहीं है। (अन-वाप्तम्) न प्राप्त हुआ (अवाप्तव्यम्) प्राप्त करने योग्य 'भी कुछ नहीं है'। (च-कर्मणि) और-कर्म में (वर्ते-एव) लगा हुआ-ही हूँ ॥६॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥७।३।२३॥

(यदि-जातु) जो कभी (अहम्-अतन्द्रितः) मैं-आलस्य

छोड़कर (कर्माणि-न वर्तेयम्) काम में-न-लगा रहूँ, 'तो' (मनुष्याः-सर्वशः) मनुस्य-सारे (मम-वर्त्म-अनुवर्त्तन्ते) मेरे-मार्ग का-अनुसरण करते हैं ॥७॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।८॥३।७।२४॥

चेन्-अहम कर्म-न-कुर्याम्) यदि-मैं कर्म-न करूँ, 'तो' (इमे-लोकाः-उत्सीदेयुः) ये-लोग-उखड़ जावेंगे। 'ऐसी अवस्था में मैं' (संकरस्य कर्ता-स्याम्) कर्म-संकर का-करने वाला बनूँगा (च-इमाः-प्रजाः-उपहन्याम्) और-इन-प्रजाओं का-नाश करूँगा ॥८॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥९॥३।२५॥

(हे भारत) हे भरत सन्तान ! (यथाकर्मणि-सक्ताः) जैसे-कर्म में-आसक्त हुए-हुए (अविद्वांसः) अज्ञानी लोग (कुर्वन्ति) 'कर्म' करते हैं, (विद्वान् ज्ञानी) (तथा-असक्तः) उसी प्रकार-राग छोड़कर (लोक-संग्रहम्-चिकीर्षुः) लोगों को-साथ लगाने की इच्छा करता हुआ (कुर्यात्) करे ॥९॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥१०॥३।२६॥

(विद्वान् ज्ञानी 'पुरुष' कर्मसंगिनाम्) 'राग से' कर्म में लगे हुए (अज्ञानाम्) अज्ञानियों का (बुद्धि-भेदम) संशय (न-जनयेत्) न-उत्पन्न करे। 'परन्तु' (युक्तः) कर्म में लगा हुआ (सर्वकर्माणि) सब कर्म (जोषयेत्) प्रीति से कराए ॥१०॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥११।२।२७।

(सर्वशःकर्माणि) सब-कर्म (प्रकृतेः-गुणैः) स्वभाव के-गुणों से (क्रियमाणानि) किये जा रहे हैं, (अहंकार-विमूढ़-आत्मा) अहंकार से-भ्रान्त-आत्मा (अहम्-कर्ता) मैं-कर्ता हूं (इति-मन्यते) यह समझता है ॥११॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणाः गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥१२॥३।२८॥

(हे महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले='अर्जुन' गुण-कर्म-विभागयोः) 'स्वभाव के' गुणों 'और' —कर्मों के-भेद के (तत्त्व-वित्-तु) तत्व को-जानने वाला तो (गुणाः) अन्तःकरण के 'सत्व' रज आदि' गुणों में (सज्जन्ते) लगे हुए हैं (इति-मत्वा) यह समझ कर (न सज्जते) नहीं आसक्त होता ॥ १२ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥१३।३।२९॥

(प्रकृतेः) अन्तःकरण रूप प्रकृति के (गुण सम्मूढाः) गुणों से-भ्रान्त हुए २ (गुण-कर्मसु) सत्वगुणी, रजोगुणी आदि कर्मों में (सज्जन्ते) आसक्त होते हैं। (तान्-अकृत्स्न-विदः-मन्दान्) उन थोड़ा जानने वाले-अज्ञानियों को (कृत्स्नवित्) सब कुछ जानने वाला (विचालयेत् न) विचलित-न करे ॥१३॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१४॥३।३३॥

(ज्ञानवान्-अपि) ज्ञानी भी (स्वस्याः-प्रकृतेः) अपने-स्वभाव के (सदृशम्-चेष्टते) अनुकूल-चेष्टा करता है। भूतानि-प्रकृतिम्-यान्ति) प्राणी-स्वभाव के 'अनुकूल' चलते हैं। (निग्रहः-किम करिष्यति) दमन-क्या करेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥१५।३।३४॥

(इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य) प्रत्येक इन्द्रिय के (अर्थे-राग-द्वेषौ) विषय में-राग-'और'-द्वेष (व्यवस्थितौ) निश्चित हैं। (तयोः-वशम्-न आगच्छेत्) उनके-वश-में-न आवे (हि-तौ-अस्य-परिपन्थिनौ) क्योंकि वे-ज्ञानी के-विरोधी हैं ॥१५॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥१६।३।३५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः ।

(सु-अनुष्ठितात्) आसानी से-किये जाने वाले (पर-धर्मात्) दूसरे के-धर्म से, 'दूसरे के स्वभाव के अनुकूल और अपने स्वभाव के विपरीत कर्म से' (विगुणः-स्वधर्मः) थोड़ा किया-हुआ-अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म (श्रेयः) श्रेष्ठ है (स्वधर्मे-निधनम्-श्रेयः) अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करते हुए-मर जाना-अच्छा है। 'अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करते हुए चाहे कितना भी संकट आवे पीछे न हटना चाहिये' (पर-धर्मः-भयावहः) दूसरे के स्वभावके अनुकूल कर्म भयदाता है ॥१६

विशेष—हमने यहाँ स्वधर्म का स्वभावानुकूल कर्म, अर्थ इस लिये किया है कि ऊपर के ग्यारहवें श्लोक से प्रकरण ही स्वभावानुकूल कर्म का चला हुआ है। अन्तःकरण में सत्य, रज, तम आदि गुणों में से किसी की न्यूनता या अधिकता का जैसा अनुपात हो जाता है, वैसा ही मनुष्य का स्वभाव हो जाता है। उसके अनुसार ही वह कर्म करता है। और उस स्वभाव को ही प्रकृति कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता का सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति

अष्टम अध्याय

प्रवृति का प्रधान कारण

सातवें अध्याय में महाराज ने प्रकृति (अन्तःकरण) के गुणों को मनुष्य को प्रवृत्ति में प्रधान कारण बतलाया था। इस अध्याय में अर्जुन ने उस गुणका नाम जानने की अभिलाषा प्रकट की है। उसने पूछा है कि, जो न चाहते-हुए भी बलपूर्वक मनुष्य को पाप-कर्म में लगा देता है, वह गुण कौन है। महाराज ने उत्तर में उस गुण का नाम रजोगुण बतलाया है। 'और उसके भी काम और क्रोध नामक दो अङ्ग, प्रवृत्ति में प्रधान साधन बतलाये हैं। और इन दोनों में से भी काम को प्रधानता दी है। इसे महाराज ने कभी भी तृप्त न होने वाली अग्नि का नाम दिया है। और अन्त में इसी के छोड़ने का उपदेश भी दिया है।

अष्टम अध्याय

कर्म योग

(प्रवृत्ति का प्रधान कारण)

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।१।।३।३६

(वार्ष्णेय) हे वृष्णिसन्तान ! (अथ) अच्छा (अयम्-पूरुषः) यह-पुरुष (अनिच्छन्-अपि) न चाहता हुआ-भी (बलात्-नियोजितः इव) बल से-लगाया हुआ जैसा (केन-प्रयुक्तः) किस से-प्रेरित हुआ (पापम्-चरति) पाप करता है=सकाम कर्म में लगता है ।१।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।२।।३।३७

(रजोगुण-समुद्भवः) रजोगुण से-उत्पन्न हुआ (महाशनः) बहुत खाने वाला (महापाप्मा) बड़ा पापी (एष-कामः) यह-काम 'और' (एष-क्रोधः) यह क्रोध है । (इह) यहां=कार्यक्षेत्र में (एनम्) इसे (वैरिणम्) शत्रु (विद्धि) समझो ।२।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३।।३।३८

(यथा-धूमेन-वह्निः जैसे-धूएं से-अग्नि (च-मलेन-आदर्शः) और मैल से शीशा (आव्रियते ढका जाता है । (तथा) वैसे 'ही'

(तेन) उससे=काम और क्रोध से (इदम्) यह=ज्ञान (आवृतम्) ढका हुआ है ।३।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।४।।३।३९

कौन्तेय हे कुन्तिपुत्र ! (ज्ञानिनः-नित्य-वैरिणा) ज्ञानी के-सदा के-बैरी (एतेन-दुष्पूरेण) इस पूर्ण-न होने वाले (कामरूपेण-अनलेन) कामरूप अग्नि से (ज्ञानम्-आवृतम्) ज्ञान ढका हुआ है ।४।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।५।।३।४०

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (मनः-बुद्धिः) मन 'और' बुद्धि (अस्य-अधिष्ठानम्-उच्यते) इसका-आधार-कहे जाते हैं (एषः) यह (ज्ञानम्-आवृत्य) ज्ञान को-आच्छादित कर (एतैः) इनके द्वारा (देहिनम्) शरीर धारी को (विमोहयति) मोहता है ।५।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।६।।३।४१

(भरत-ऋषभ) हे भारत-श्रेष्ठ ! (तस्मात्-त्वम्) इस लिये तुम (आदौ-इन्द्रियाणि-नियम्य) पहिले-इन्द्रियों को-रोक कर (ज्ञान-विज्ञान-नाशनम्) ज्ञान 'और' विज्ञान का-नाश करने वाले (एनम् पाप्मानम्) इस=काम-पापी को (प्रजहि) मार ।६।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।७।।३।४२

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (पराणि) पर-परे=सूक्ष्म (आहुः) कहा है । (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः परम्) मन परे है (तु-

मनसः-बुद्धिः-परा) और मन से-बुद्धि-पर है (यः बुद्धेः-परतः) जो बुद्धि-से-परे है (तु-सः 'वह' ही-वह है = आत्मा है ॥७॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥८।३।४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टमोऽध्यायः ।

(एवम् इस प्रकार (बुद्धेः-परम्-बुद्ध्वा) बुद्धि से-सूक्ष्म को-जानकर (आत्मानम्-आत्मना-संस्तभ्य) अपने आपको-अपने आप से- संभाल कर (महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले 'अर्जुन' (काम-रूपम्-दुरासदम्-शत्रुम्-जहि) कामरूप-पराजित न होने वाले-शत्रु को मार ॥८॥

यह श्रीमद्भगवद्गीता का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

नवम अध्याय

कर्म-संन्यास का साधन कर्म

पांचवें अध्याय में महाराज ने कर्म के संन्यास को अशक्य बतलाया था। और इससे आगे के तीन अध्यायों में कर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए, अर्जुन के प्रश्न करने पर कर्म में प्रवृत्ति के प्रधान कारण का निर्देश किया गया है। अब प्रश्न यह उपस्थित है कि यदि कर्म के त्याग की विधि से कर्म-संन्यास नहीं हो सकता तो क्या इसका कोई और भी उपाय है ? बस इसी प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है।

महाराज ने कहा कि कर्म और अकर्म (कर्म-संन्यास) का विषय इतना एक दूसरे से मिला हुआ है, कि इसके भेद को सम-झना ही कठिन है। और सच तो यह है कि कर्म स्वयं ही कर्म-संन्यास का रूप धारण कर लेता है। परन्तु तब जब कि उससे फल की कामना और उसके संकल्प तक को पृथक् कर दिया गया हो। कर्म की यह विधि ही कर्म-संन्यास का उत्तम उपाय है। इस विधि का अनुष्ठान, कर्म के बीज को जला देता है, उसे फल देने के अयोग्य बना देता है। और इसी लिये यह कर्म विद्यमान होता हुआ भी अकर्म बन जाता है। इस विधि में यह लाभ है कि शारीरिक कर्म को छोड़ कर उसी प्रकार के भावों को मन से चिन्तन करते रहने का पाप नहीं करना पड़ता। इसके अति-रिक्त यज्ञ (लोक-हित की कामना) से किया हुआ कर्म भी अकर्म बन जाता है। क्यों कि यहां भी कर्ता उस कर्म से अपने लिये किसी फल की कामना नहीं करता।

—❋—

नवम अध्याय

कर्म योग

कर्म संन्यास का साधन कर्म

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥४।१६॥

(कर्म-किम्) कर्म योग क्या है (अकर्म-किम्) कर्म-संन्यास क्या है, (अत्र) इस विषय में (कवयः-अपि) विद्वान् भी (मोहिताः) भ्रान्त हैं। (तत्-कर्म-ते-प्रवक्ष्यामि) वह-कर्म-तुम्हें बतलाऊँगा (यत्-ज्ञात्वा) जिसे-जानकर (अशुभात्-मोक्ष्यसे) पाप से छूट जाओगे ॥१॥

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥२॥४।१६॥

(हि-कर्मणः-अपि-बोद्धव्यम) निःसन्देह-कर्म योग का 'सार' भी जानना चाहिए (विकर्मणः-च-बोद्धव्यम। विरुद्ध कर्म= शास्त्र के तथा प्रकृति के विपरीत कर्म का भी 'सार' जानना चाहिए। (च-अकर्मणः-अपि-बोद्धव्यम्) और-कर्म संन्यास का भी 'सार' जानना चाहिए (कर्मणः-गतिः-गहना) कर्म का-ज्ञान-गम्भीर है।२॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥३॥४।१८॥

(यः कर्मणि-अकर्म) जो-कर्म योग में-कर्म संन्यास को (च-अकर्मणि-कर्म) और कर्म सन्यास में-कर्मयोग को (पश्येत्) देखता है। (मनुष्येषु-स-युक्तः) मनुष्यों में-वह-योगी (स-बुद्धिमान्-च-स-कर्मकृत्) मह-बुद्धिमान्-और.वह-कर्म करनेवाला है।३।

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४॥४।१९॥

(यस्य-सर्वे-समारम्भाः) जिसके-सारे-उद्योग (काम-संकल्प-वर्जिताः) फल की, कामना के-संकल्प से-रहित हैं। (बुधाः) विद्वान् (तम्) उसे (ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्) १ ज्ञान की २ अग्नि से कर्म को-३ जलाने वाले को (पण्डितम्-आहुः) पण्डित कहते हैं ॥४॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं, नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैवकिंचित्करोति सः ॥५॥४।२०॥

(कर्म-फल-आसंगम) 'जो' कर्म-फल में-आसक्ति को (त्यक्त्वा) छोड़ कर (नित्य-तृप्तः) सदा-प्रसन्न (निराश्रयः) 'कामना के' आश्रय से रहित 'है'। (स-कर्मणि-अभिप्रवृत्तः-अपि) वह कर्म-में सर्वथा लगा हुआ भी (किंचित-न-एव-करोति) कुछ नहीं करता है। 'उसका कर्म, अकर्म है' कर्म संन्यास है ॥५॥

निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्त सर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥६॥४।२१॥

(निर्-आशीः) २ फल की प्रार्थना को-१ छोड़ने वाला (यत-चित्त-आत्मा) २ चित्त 'और' ३ आत्मा को-१ रोकने वाला (त्यक्त-सर्व-परिग्रहः) २ सब-३ सम्बन्धों को-१ त्यागने वाला

'मनुष्य' (केवलं-शारीरम्) कर्म-कुर्वन् (केवल-शारीरिक-कर्म-करता हुआ (किल्बिषम्-न-आप्नोति) पाप को नहीं-प्राप्त होता ॥६॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥७॥४।२२॥

(यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः) यथा-प्राप्त लाभ से-प्रसन्न (द्वन्द्व-अतीतः) 'हर्ष-शोक, धूप-शीत' आदि द्वन्द्वों से पार, (विमत्सरः) डाह से रहित (सिद्धौ-च-असिद्धौ-समः) सिद्धि-और-असिद्धि में-समान 'पुरुष' (कृत्वा-अपि) करके भी (न-निबध्यते) नहीं-बांधा जाता ॥७॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ॥८॥४।२३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः ।

(गत-संगस्य) २आसक्ति से-१ रहित (ज्ञान-अवस्थित-चेतसः) ज्ञान में-स्थिर-चित्त वाले (यज्ञाय-आचरतः) यज्ञ=लोक हित के लिये-अनुष्ठान करने वाले (मुक्तस्य) बन्धन से-रहित 'पुरुष' का (समग्रम्-कर्म) सारा कर्म (प्रविलीयते) विलीन हो जाता है=फल देने के योग्य नहीं रहता ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीता का नवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

दशम अध्याय

यज्ञ और ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता

छठे अध्याय में यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता बतलाई गई थी। प्रसंग से नवें अध्याय के अन्त में भी उसकी चर्चा की गई है। इस अध्याय में यज्ञों के भेद बतलाते हुए उन सब में से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है। द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ और ज्ञान यज्ञ, इन चार भागों में यहां यज्ञ को विभक्त किया गया है। कर्म काण्ड सारा ही द्रव्य यज्ञ में आ गया है। ब्रह्म की उपासना और इन्द्रियों के संयम को तप यज्ञ का नाम दिया है। प्राणायाम, नियत आहार आदि योग क्रियाओं को योग यज्ञ कहा गया है। सब संशयों को मिटा कर बुद्धि को किसी एक निर्णय पर स्थिर करना ज्ञान यज्ञ है। यह ज्ञान श्रद्धा देवी के गर्भ से उत्पन्न हो तो मनुष्य तत्काल ही अपने ध्येय तक पहुंच जाता है। ज्ञान के बिना यह लोक और परलोक कोई भी सिद्ध नहीं होता। यदि कर्म योग के साथ संशय को काटने वाला ज्ञान भी मिल जावे तो सोने में सुगन्ध समझो। इस प्रकार ज्ञान की महिमा का गान कर संशय का संहार कर, अर्जुन को संग्राम रूप कर्म योग लग जाने की महाराज ने प्रेरणा की है।

—०—

दशम अध्याय

कर्मयोग

यज्ञ और ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता

दैवमेवापरे यज्ञं, योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं, यज्ञेनैवोप जुह्वति ॥१॥४।२५॥

(अपरे-योगिनः) कोई योगी (दैवम्-यज्ञम्-एव) अग्नि वायु आदि देवताओं के निमित्त (द्रव्य) यज्ञ की-ही (उपासते) उपासना करते हैं=अनुष्ठान करते हैं। (अपरे-ब्रह्म-अग्नौ) दूसरे ब्रह्मरूप-अग्नि में (यज्ञम) यज्ञ का=अपने आत्मा, मन, बुद्धि आदि ज्ञान यज्ञ की सामग्री का (यज्ञेन-एव) यज्ञ से=धारणा, ध्यान समाधि क्रियाओं से-ही (उपजुह्वति) होम करते हैं ॥१॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये, संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२॥४।२६॥

(अन्ये) कोई (श्रोत्र-आदीनि-इद्रियाणि) श्रोत्र-आदि-इन्द्रियों को संयम-अग्निषु) संयम रूपी अग्नियों में जुह्वति) होम करते हैं। (अन्ये) दूसरे (शब्द-आदोन्-विषयान्) शब्द आदि विषयों की=विषय वासनाओं की (इन्द्रिय-अग्निषु) इन्द्रिय रूपी अग्नियों में (जुह्वति) आहुति डालते हैं ॥२॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयागाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥३॥४।२७।

(अपरे) दूसरे लोग (सर्वाणि-इन्द्रिय-कर्माणि) सब-इन्द्रियों के-कर्मों की (च-प्राण-कर्माणि) और-प्राण-की क्रियाओं की (ज्ञान-दीपिते) ज्ञान से प्रकाशित हुए (आत्म-संयम-योग-अग्नौ) आत्मा के संयम रूपी-योग की अग्नि में (जुह्वति) आहुति डालते हैं ॥३॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥४।४।२९॥

(अपरे) अन्य (प्राण-अपान-गती-रुद्ध्वा) प्राण 'और' अपान की-गतियों को-रोक कर (प्राणायाम-परायणाः) प्राणायाम में-तत्पर (अपाने-प्राणम्) अपान-वायु में प्राण की, (तथा-प्राणे अपानम्) 'और' ऐसे ही प्राण में-अपान को (जुह्वति) आहुति डालते हैं ॥४॥

अपरे नियताहाराः, प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥५।४।३०॥

(नियत-आहाराः) नियमित-भोजन करने वाले (अपरे) अन्य (प्राणान् प्राणेषु-जुह्वति) प्राणों की प्राणों में-आहुति डालते हैं। (एते-सर्वे-अपि) ये सब-ही (यज्ञ-विदः) यज्ञ के जानने वाले (यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः) यज्ञ से ३ पाप को २ दूर करने वाले हैं ॥५॥

विशेष—अपान में प्राण की और प्राण में अपान की आहुति इस प्रकार डाली जाती है—

मनुष्य जब प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करता है तो उसे दो उपायों का अनुष्ठान करना पड़ता है। उन में से प्राण का अपान के साथ मेल करना एक उपाय है। और अपान

का प्राण के साथ मेल करना दूसरा उपाय है। सामान्य दृष्टि से जिस श्वास को हम अन्दर से बाहर निकालते हैं उसे प्राण कहते हैं। यद्यपि जो श्वास बाहर निकालते हैं, था तो वह भी पहिले प्राण ही, उसे भी बाहर से ही अन्दर पहुंचाया गया था। परन्तु अब वह प्राण नहीं रहा अपान हो गया है। पहिले अन्दर ले जाने के योग्य होने से प्राण था, और अब बाहर निकालने के योग्य हो जाने से अपान हो गया है! जब उसे अन्दर ले गये थे उसमें अनेक गुण थे। इस लिये प्राण था=खाने के योग्य था। और अब उसमें अनेक दोष पैदा हो गये हैं, इसलिये अपान है=बाहर निकालने के योग्य हो गया है। श्वास को बाहर से लेकर अन्दर फेफड़े में डाला गया था, और फेफड़े में रक्त के दोषों को लेकर वह दूषित हो गया है, इसीलिये वह अपान बन गया है। इस अपान को बाहर निकालते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि फेफड़े में भरा हुआ सारा ही श्वास बाहर निकल आवे। और यदि फेफड़े के किसी कोने में इस प्रकार का दूषित वायु देर तक पड़ा रह गया तो वह फेफड़े को दूषित कर देगा।

इसलिये प्राण की अपान में आहुति डालने का यहां विधान है। बाहर से प्राण को अधिक मात्रा में लेकर फेंफड़े में भर दिया जाता है। यह क्रिया शनैः शनैः की जाती है, शनैः शनैः इसलिये की जाती है कि कहीं सहसा प्राण के अन्दर ले जाने से किसी प्राणतन्तु पर अधिक दबाव पहुंच कर हानि न हो। अधिक मात्रा में अन्दर गया हुआ प्राण फेंफड़े के प्रत्येक अङ्ग में भर जाता है। जो अपान फेंफड़े के किसी स्थान में शेष था, उसके अन्दर भी यह प्राण प्रवेश कर जाता है। यह ही अपान में प्राण की आहुति है। इसे देर तक ठहराया जाता है। देर तक ठहराने के दो लाभ

हैं। एक यह कि वह प्राण अन्दर ठहरे हुये अपान को सर्वथा अपने साथ मिला ले, यहां तक कि उसके सम्बन्ध से फेफड़े का भी कोई अंश यदि दूषित हो गया तो उसे भी यह प्राण शुद्ध कर दे। और दूसरा फल यह है कि प्राण के फेफड़े में देर तक भरे रहने से उसके आकर्षण से, शरीर के सब स्थानों में फैला हुआ प्राण भी हृदय की तरफ चलना आरम्भ कर देगा। और इस प्रकार प्राण के एक स्थान में स्थिर होने से मन में भी एकाग्रता उत्पन्न होगी।

प्राण में अपान की आहुति डालना प्राणायाम का दूसरा प्रकार है। बाहर का सब वायु प्राण ही है। फेफड़े में से सारे ही अपान को बाहर निकाल दिया जाता है। उसकी बाहर के प्राण में आहुति डाल दी जाती है। और फिर उसी अवस्था में देर तक ठहर जाना पड़ता है। इस प्राणायाम का लाभ यह है कि फेफड़े में से सारे अपान के बाहर निकल जाने पर शरीर में प्राण तन्तुओं के द्वारा फैला हुआ प्राण हृदय की तरफ चलना आरम्भ कर देता है। उद्देश्य वही मन की एकाग्रता है।

प्राणों में प्राणों की आहुति डालना तीसरा प्राणायाम है। इस प्राणायाम में, न प्राण की अपान में और न अपान की प्राण में आहुति डाली जाती है। किन्तु प्राण जिस अवस्था में हो उसे रोक दिया जाता है। इसलिये यह प्राण में ही प्राण की आहुति है। लाभ इस प्राणायाम के भी पूर्वोक्त ही हैं।

यह प्राणायाम का एक प्रकार है। दूसरे प्रकार का प्राणायाम ध्यानयोग के द्वारा भी किया जाता है।

इस विधि के अनुसार गीता के इन श्लोकों का भाव नीचे लिखा जाता है। इस विधि में हृदय से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के सब प्राण का नाम प्राण है। और हृदय से नीचे के भाग से लेकर

पैरों तक के सब प्राण का नाम अपान है। इस विधि में मन को भृकुटी के बीच में या ब्रह्मरन्ध्र में एकाग्र किया जाता है=मन से सब वृत्तियों को हटाते हुये उसे इनमें से किसी एक स्थान में लगाया जाता है। प्राण स्वभाव से जिधर मन जाता है चलना आरम्भ कर देता है। मन के मस्तिष्क के किसी एक भाग में एकाग्र होने पर हृदय के नीचे का और ऊपर का भी प्राण मस्तिष्क की तरफ चलाना आरम्भ कर देता है। नीचे के प्राण का जब हृदय के प्राण में आकर मेल होता है तब ही इनमें से एक दूसरे की एक दूसरे में आहुति पड़ती है, प्राण की अपान में और अपान की प्राण में। और हृदय के दाग का प्राण जो मस्तिष्क के प्राण जो मस्तिष्क के प्राण से जाकर है, यह ही प्राण की प्राण में आहुति है, मस्तिष्क में जाकर प्राण और अपान की एकता हो जाने पर ही समाधि होती है।

प्रत्येक प्राणायाम में भोजन नियत होना चाहिए। आहार थोड़ा भी हो, खुश्क तथा चटपटे मसाले बीच में न हों, घी की मात्रा भी अधिक हो। परन्तु जितना नित्य का नियम है उस से अधिक भोजन कभी न हो।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥६॥४।२८॥

'ऊपर कहे गए' (संशित-व्रताः) प्रशंसनीय-व्रत वाले (यतयः) यति लोग 'जो दैवयज्ञ करने वाले हैं, वे' (द्रव्य-यज्ञाः) द्रव्य से यज्ञ करते हैं। 'जो ब्रह्म की अग्नि में आत्मा की और संयम की अग्नि में इन्द्रियों की आहुति डालते हैं, वे (तपो-यज्ञा) तप-यज्ञ करते हैं। जो प्राण की अपान में, अपान की प्राण में और प्राण की प्राण में आहुति डालते हैं, वे (योग-यज्ञाः) इन्द्रियों की वृत्ति तथा प्राण के निरोध रूप' योग यज्ञ करने वाले हैं। और जो सब

इन्द्रियों और प्राण के कर्मों की ज्ञान में आहुति डालते हैं, अर्थात् अनासक्ति और निष्काम कर्म के तत्व को भली भांति जानकर इन्द्रियों को और प्राण की क्रिया करते हैं, वे, (स्वाध्याय-ज्ञान यज्ञाः) यज्ञ करने वाले हैं ॥६॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥७॥४।३१॥

(यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः) यज्ञ के शेष रूप-अमृत को खाने वाले, (सनातनम्-ब्रह्म-यान्ति अनादि-ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (कुरुसत्तम) हे कुरुश्रेष्ठ! (अयज्ञस्य) यज्ञ न करने वाले का (अयम्-लोकः-न-अस्ति) यह लोक 'भी' -नहीं बनता (अन्यः-कुतः) परलोक-कहां से 'बनेगा' ॥७॥

एवं बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥८॥४।३२॥

(एवम्) इस प्रकार (ब्राह्मणः-मुखे) वेद के वचनों द्वारा (बहु-विधाः) अनेक-प्रकार के (यज्ञाः-वितता) यज्ञ-फैले हैं। (तान्-सर्वान्-कर्मजान-विद्धि) उन सबको कर्म से होने वाले-जानो। (एवम्-ज्ञ त्वा-विमोक्ष्यसे) ऐसे जानकर-छूट जाओगे ॥८॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥९॥४।३३॥

(परन्तप) हे शत्रु को तपाने वाले=अर्जुन! द्रव्य-मयात्-यज्ञात्) द्रव्य से होनेवाले-यज्ञ से (ज्ञान-यज्ञः-श्रेयान्) ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। (पार्थ) हे पृथापुत्र! (सर्वम्-अखिलम् कर्म)

पूर्ण, 'और' सारे-कर्म (ज्ञानेपरिसमाप्यते) ज्ञान होने पर-पूर्ण होते हैं ॥९॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योग संसिद्धः काले नात्मनि विन्दति ॥१०॥४।३८॥

(ज्ञानने-सदृशम्) ज्ञान-जैसा (पवित्रम्) शुद्ध (इह-नहि-विद्यते) इस लोक में-नहीं-है, (तत् योग-संसिद्धः) उसे योग से-सिद्ध हुआ 'पुरुष' (स्वयम्-कालेन-आत्मनि-विन्दति) आप ही आप ही समय पाकर-आत्मा में प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा पराँ शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥११॥४।३९॥

(श्रद्धावान-संयत-इन्द्रियः) श्रद्धा से युक्त २ इन्द्रियों का १ संयम करने वाला (तत्परः) 'ज्ञान मार्ग में' (ज्ञानम् लभते) ज्ञान को प्राप्त करता है। (ज्ञानम्-लब्ध्वा) ज्ञान को-प्राप्त करके (अचिरेण-पराम्-शान्तिम्) शीघ्र ही श्रेष्ठ-शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ॥११॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥१२॥४।४०॥

(अज्ञः-च-अश्रद्दधानः) अज्ञानी-और-श्रद्धा न रखने वाला (संशय-आत्मा) सन्देह की मूर्ति, 'मनुष्य' (विनश्यति) नष्ट हो जाता है (संशय-आत्मनः) सन्दिग्ध 'मनुष्य' का (न-अयं लोकः) न यह लोक (न परः) न-परलोक 'और' (न-सुखम्-अस्ति) न-सुख सिद्ध होता है ॥१२॥

योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ॥१३॥४।४१॥

(योग-संन्यस्त-कर्माणम्) १ योग से=कर्म फल के त्याग से ३ कर्म का २ त्याग करने वाले (ज्ञान-संछिन्न-संशयम्) १ ज्ञान से ३ संशय को २ काटने वाले (आत्मवन्तम्) आत्मज्ञानी को (कर्माणि-न-निबध्नन्ति) कर्म-नहीं बांधते ॥१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥१४॥४।४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः ।

(तस्मात्) इसलिये (अज्ञान-सम्भूतम् अज्ञान से उत्पन्न हुये (हृत्स्थम) हृदय में विद्यमान (एनम् संशयम्) इस संशय को (ज्ञान-असिना-छित्वा) ज्ञान की तलवार से-काट कर (योगम्-आतिष्ठ) योग का-आश्रय लो, (उत्तिष्ठ) 'और' उठो ॥१४॥

यह श्रीमद्भगवद्गीता का दशवां अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति
एकादश अध्याय
कर्मसंन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता

दशवें अध्याय में महाराज ने, योग (कर्म-फल के संन्यास) को ही, कर्म-संन्यास का रूप दिया है। और इसी लिये अर्जुन ने इस अध्याय के आरम्भ में ही प्रश्न कर दिया, कि आप कर्मयोग और कर्म-संन्यास को मिला कर उपदेश कर रहे हैं। परन्तु मैं जानना चाहता हूं कि इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है, जिससे कि मैं इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो, उसका अनुष्ठान कर सकूँ।

महाराज ने कहा, अर्जुन ये दोनों ही कल्याणकारक है। परन्तु दोनों में श्रेष्ठ है कर्मयोग। यद्यपि फल की दृष्टि से सांख्य और योग समान ह हैं, इनमें से एक को सिद्ध करने वाला, दोनों का फल प्राप्त कर लेता है। परन्तु अनुष्ठान की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। कारण यह है कि फल की कामना को छोड़े बिना कर्म छूट नहीं सकते, और योगी के अनुष्ठान का इसी विधि से आरम्भ होता है। इसके विपरीत संन्यासी को पहिले ही कर्म का त्याग आरम्भ करना होगा। ऐसी अवस्था में कर्म छोड़ने पर भी मन में फल की कामना और संकल्प बने रहेंगे और ये ही बन्धन के कारण हैं। और यदि संन्यासी भी पहिले फल की कामना और संकल्प का त्याग कर फिर कर्म का त्याग करेगा, तो पहिले कर्मयोग का आरम्भ उसे भी करना पड़ा और जब कि कर्मयोग ही कर्मों को फल देने के योग्य नहीं छोड़ता, उन्हें नपुंसक बना देता है, तो फिर कर्म के त्याग की आवश्यकता ही क्या रही। इस लिये जो फल की कामना और संकल्प को छोड़ कर कर्म करता है, वह ही संन्यासी है और वह ही योगी है, कर्म छोड़ने वाला नहीं।

एकादश अध्याय
कर्म योग
(कर्मसंन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता)

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥५।१॥

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! (कर्मणाम्-संन्यासम्) कर्मों के संन्यास (च-पुनः-योगम्-शंससि) और-फिर-योग 'दोनों' का-उपदेश करते हो। (एतयोः-यत्-एकम्-श्रेयः) इनमें से-जो-एक-कल्याणकारक है (तत्-मे-सुनिश्चितम्) वह-मुझे-अच्छी तरह निश्चय करके (ब्रूहि) कहो॥

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२।५।२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—(सन्यासः-च-कर्मयोगः) संन्यास-और-कर्मयोग (उभौ-निःश्रेयस-करौ) दोनों कल्याणकारक हैं। (तु-तयोः) परन्तु-उन दोनों में से (कर्म-संन्यासात्) कर्मों के त्याग से (कर्म-योगः) कर्म-योग विशिष्यते विशेष है=श्रेष्ठ है॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्दो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥५।३॥

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (यः-न-द्वेष्टि) जो-न-द्वेष करता है (न-कांक्षति) 'और' न-कामना करता है (सः-नित्य-संन्यासी) वह-सदा-संन्यासी (ज्ञेयः) समझना चाहिए। (निर्द्वन्द्वः) 'राग द्वेष-आदि' द्वन्द्वों से रहित 'पुरुष' (बन्धात्) बन्धन से (सुखम्-प्रमुच्यते) आराम से-छूट जाता है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥५।४॥

(सांख्य-योगौ) सांख्य 'और' योग को (बालाः) बालक अज्ञानी (पृथक्-प्रवदन्ति) अलग-अलग कहते हैं (पण्डिताः-न) पण्डित-नहीं (एकम्-अपि-सम्यक्-आस्थितः) एक पर भी भली भांति आरूढ़ हुआ हुआ (उभयोः-फलम्-विन्दते) दोनों का फल प्राप्त करता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥५।५॥

(यत्-स्थानम्) जो स्थान (सांख्यैःप्राप्यते) सांख्य वालों को=कर्मसंन्यासियों को मिलता है। (तत्-योगैः-अपि-गम्यते) वह-योग वालों को भी प्राप्त होता है। यः-सांख्यम्-च-योगम्) जो सांख्य-और योग को (एकम्-पश्यति) एक देखता है। (सः-पश्यति वह-देखता है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्म अचिरेणाधिगच्छति ॥६॥५।६॥

(महाबाहो) हे महाभुज ! = अर्जुन ! (अयोगतः) कर्म-योग के बिना (संन्यासः-तु) संन्यास तो (आप्तुम-दुःखम्) प्राप्त-करना-कठिन है। (योग-युक्तः) कर्म योग में-लगा हुआ (मुनिः) यति (ब्रह्म-चिरेण-न) ब्रह्म को-देर से-नहीं = शीघ्र ही (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥५।१७॥

(विशुद्ध-आत्मा) शुद्ध आत्मा वाला (जित-इन्द्रियः) २ इन्द्रियों को १ जीतने वाला (विजित-आत्मा) २ अपने आप पर १ विजय पाने वाला (सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा) सर्व प्राणियों के-आत्मा के-समान-आत्मा वाला = अर्थात् जो सबकी आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है, (योग-युक्तः) कर्म योग में-लगा हुआ 'मनुष्य' (कुर्वन्-अपि) करता हुआ-भी (न-लिप्यते) नहीं लिप्त होता ॥७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन् अश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् उन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥५।९॥

(पश्यन्) देखता हुआ (शृण्वन्-स्पृशन्) सुनता हुआ-छूता हुआ (जिघ्रन्-अश्नन्) सूंघता हुआ-खाता हुआ (गच्छन् स्वपन्) चलता हुआ-सोता हुआ (श्वसन-प्रलपन्) श्वास-लेता हुआ-प्रलाप करता हुआ (विसृजन्-गृह्णन्) मल मूत्र का त्याग करता हुआ-लेता हुआ (उन्मिषन्-निमिषन्) पलक खोलता हुआ-पलक बन्द करता हुआ, (तत्त्ववित्) तत्त्व-ज्ञानी (युक्तः) कर्मयोगी

(इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेषु-वर्तन्ते) इन्द्रियें इन्द्रियों के विषय में-लगी हुई हैं (इति-धारयन्) यह-धारणा करता हुआ 'मैं' (किंचित्-न-एव-करोमि) मैं-कुछ-नहीं कर रहा हूँ (इति-मन्येत) यह समझे ॥८।९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१।५।१०॥

(यः-संगम्-त्यक्त्वा) जो आसक्ति-छोड़ कर (ब्रह्मणि आधाय) ब्रह्म के-अर्पण कर (कर्माणि-करोति) कर्म करता है। (सः-अम्भसा-पद्म-पत्रम्-इव) वह-जल-से-कमल-के-पत्ते की-तरह (पापेन-लिप्यते-न) पाप से-लिप्त-नहीं होता ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११।५।११॥

(योगिनः) योगी लोग (संगम्-त्यक्त्वा) आसक्ति छोड़ कर (आत्म-शुद्धये) आत्मा की-शुद्धि के लिये (कायेन-मनसा-वाचा) शरीर से-वाणी से (केवलैः-इन्द्रियैः-अपि) 'और' केवल-इन्द्रियों से-भी (कर्म-कुर्वन्ति) कर्म-करते हैं ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निवध्यते ॥१२।५।१२॥

(युक्तः) कर्म योगी (कर्म-फलम्-त्यक्त्वा) कर्मफल को-त्याग कर (नैष्ठिकीम्-शान्तिम्-आप्नोति) स्थिर शान्ति को-प्राप्त करता है। (अयुक्तः) 'कर्म में' न लगा हुआ=कर्म संन्यासी (काम-कारेण) कामनाओं के करने से (फले-सक्तः) फल में आसक्त हुआ-हुआ (निबध्यते) बन्धन में पड़ता है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१३।६।१॥

(यः-कर्म-फलम्-अनाश्रितः) जो कर्म-फल का आश्रय न लेता हुआ (कार्यम्-कर्म-करोति)कर्तव्य-कर्म करता है। (संन्यासी च) संन्यासी-और (योगी-च) योगी-भी (सः) वह 'है' (निरग्निः-च-अक्रियः) अग्नि होत्र न करने वाला-और-कर्म न करने वाला (न) नहीं ॥१३॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥१४।६।२॥

(पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र ! (यम्-संन्यासम्- इति-प्राहुः) जिसे-संन्यास इस नाम से कहते हैं (तम्-योगम्-विद्धि) उसे-कर्म योग-समझो। (हि-असंन्यस्त-संकल्पः) १ क्योंकि ३ संकल्प का-२ त्याग न करने वाला (कश्चन-योगी-न-भवति) कोई योगी-नहीं-होता। 'इसलिये फल संन्यास के कारण यह योगी भी संन्यासी हुआ ॥१४॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥१५।६।३॥

'फल की कामना न होने पर भी कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है' (योगम्-आरुरुक्षोः) कर्मयोग में-आरूढ़ होने की इच्छा वाले (मुनेः) यति का 'कर्म में लगाने का' (कर्म-कारणम्-उच्यते) प्रवृत्ति=कर्म में आसक्ति-कारण-कही जाती है। 'क्योंकि यह चिर-काल से कर्म करने का अभ्यासी है, इसलिये फल की कामना न होने पर भी, उसकी वह पुरानी कर्म में आसक्ति, उससे कर्म कराती है 'और' (योग-आरूढस्य) योग में-स्थिर हुए-हुए की

(तस्य-एव) उसकी ही (शमः) 'प्रज्ञा की स्थिति, और फल कामना के त्याग से प्राप्त हुए चित्त की' शान्ति 'कर्तव्य कर्म के कराने में (कारणम्-उच्चते) साधन कही जाती है ॥१५॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥१६।६४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां एकादशोऽध्यायः ।

(हि-यदा) क्योंकि जब (न इन्द्रिय-अर्थेषु) न इन्द्रियों के विषयों में 'और' (न कर्मसु) न कर्मों में (अनषज्यते) आसक्त होता है अर्थात् शान्ति प्राप्त होने पर कर्मों को भी आसक्ति से नहीं कर्तव्य समझ कर करता है, (तदा-योग-आरूढः-उच्यते) तब-योग-में-स्थित कहा जाता है ॥१६॥

श्रीमद्भगवद्गीता का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

द्वादश अध्याय

साम्यबुद्धि और उसका साधन ध्यानयोग

ग्यारहवें अध्याय में कर्मयोग को कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ इस दृष्टि से बतलाया गया कि कर्मयोग का अनुष्ठान किये बिना कर्म-संन्यास हो नहीं सकता, और कर्म-योग की सिद्धि होने पर कर्मसंन्यास की आवश्यकता नहीं रहती । परन्तु कर्म-योग का अनुष्ठान भी तो टेढ़ी खीर है । बिना किसी फल की कामना के मनुष्य कार्य को आरम्भ ही कैसे कर सकेगा । बिना किसी प्रयोजन को सामने रक्खे तो उसका आगे बढ़ना ही असम्भव है । बस इसी प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है । निष्काम कर्म के अनुष्ठान की योग्यता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिये । उसे कामना के कीचड़ से ऊँचा उठाने के लिये बुद्धि में समता के बल का विकास करना चाहिये । जो अपने आपको अपने अधिकार में रखने का यत्न नहीं करता वह अपना शत्रु आप है । अपनी आत्मा को वश में करने के उपाय हैं-ज्ञान और विज्ञान तथा ध्यान-योग से आत्मा में साम्यबुद्धि का उत्पन्न करना । ज्ञान और विज्ञान का निरूपण आगे चल कर किया जावेगा । और ध्यान-योग की विधि इस अध्याय में बतलाई गई है । यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि योगी इस प्रकार अपने ऊपर अधिकार, कर ध्यान योग का अनुष्ठान करता हुआ साम्यबुद्धि को तो प्राप्तकर ही लेता है, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति भी उसे इसी साधन से हो जाती है । इस प्रकार फल

की कामना के बिना कर्म में प्रवृत्ति का उपाय बतलाया गया, साम्यबुद्धि की प्राप्ति। और उसका भी साधन बतलाया गया ध्यान योग के द्वारा मन का निरोध। यह सुन कर अर्जुन ने फिर प्रश्न किया कि महाराज मन तो बड़ा चंचल है। इसका निरोध तो वायु के निरोध से भी कठिन है। फिर ध्यान योग से इस का रोकना कैसे सम्भव हो सकेगा। इस प्रश्न के उत्तर में मन के रोकने का उपाय महाराज ने अभ्यास और वैराग्य के द्वारा आत्मा का संयम बतलाया। यह सुन कर अर्जुन ने फिर प्रश्न किया कि महाराज! श्रद्धा रखते हुए भी ध्यान योग के द्वारा साम्यबुद्धि को सम्पादन करता हुआ, जो मनुष्य कर्म योग के क्षेत्र में सफल होगया, उसके तो आप के कथन के अनुसार यह लोक और परलोक दोनों उज्ज्वल बन ही जावेंगे। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब ही वहां तक पहुँच सकेंगे। ऐसी अवस्था में कृपया बतलाइये कि उन मध्यस्थ पुरुषों की क्या गति होगी। वे गरीब तो न इधर के रहे न उधर के! अर्जुन ने अपनी निर्बलता को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न किया था। महाराज ने भी उसे इस का उत्साहजनक और यथार्थ उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि संयम के मार्ग में खड़ा होकर जिसने पचास कोस की यात्रा में से एक कोस भी पार कर लिया है, वह दूसरे जन्म में पहिले कोस से नहीं दूसरे कोस से ही चलना आरम्भ करेगा उस का वह परिश्रम कभी भी निष्फल नहीं जा सकता। उसे दूसरे जन्म में साधन भी उसके इस भाव के अनुसार श्रेष्ठ ही मिलेंगे, और इसी क्रम से चलता हुआ आने वाले किसी जन्म में वह सफल अवश्य होगा। अन्त में महाराज ने ध्यान योगी की प्रशंसा करते हुए इस उत्तर को समाप्त किया है।

———

द्वादश अध्याय

ध्यान योग

(साम्यबुद्धि और उसका साधन ध्यान योग)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१।६।५॥

(आत्मना-आत्मानम्-उद्धरेत्) आत्मा से=आत्मिक बल से-आत्मा का उद्धार करे। (आत्मानम्-अवसादयेत्-न) आत्मा को नीचे न गिराए। (हि-आत्मनः-आत्मा-एव-बन्धुः) क्योंकि आत्मा का-आत्मा ही-बन्धु है' (आत्मनः-आत्मा-एव-रिपुः) 'और' आत्मा का-आत्मा ही शत्रु है ॥१॥

विशेष— यहां आत्मा से आत्मा का उद्धार करना लिखा है। उद्धार करने का साधन अलग होता है, और जिसका उद्धार किया जावे वह वस्तु पृथक् होती है। परन्तु यहां दोनों की जगह आत्मा का ही नाम लिया गया है।

यद्यपि शब्द एक हीं है, परन्तु यहां भी उद्धार का साधन भिन्न ही वस्तु है। उद्धार जीव आत्मा का किया जाता है। और उद्धार का साधन, आत्मा, अन्तःकरण और ज्ञान इन्द्रियें इन सब का मिला हुआ एक समुदाय है। अन्तःकरण के दूषित होने पर ही आत्मा में दोष आते हैं, और उन दोषों को दूर करना ही आत्मा का उद्धार है। जब तक इन्द्रियों की क्रियाएँ धर्म के अनुकूल न हों, और अन्तःकरण के मल दूर न हों, आत्मा ऊँचा उठ नहीं सकता। इसलिये आत्मा के उद्धार में यह सारा का सारा

समुदाय ही कारण है। इन सबके सुधार में भी आत्मा की साव-धानता विशेष उपकारक है,इसलिये इस सारे उद्धारकों के समुदाय में भी आत्मा ही प्रधान है। और प्रधान होनेके कारण यहां साधन पक्ष में भी आत्मा का ही नाम लिया गया है। इस समुदाय के दोषों से दूषित होकर आत्मा, अपना आप ही शत्रु और उन दोषों से बच कर अपना आप ही मित्र हो जाता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२।६।६॥

(येन-आत्मा-आत्मना-एव-जितः) जिसने-आत्मा को-आत्मा से=आत्मिक बल-से-ही-जीता है। (तस्य-आत्मनः-आत्मा-बन्धुः) उस आत्मा का-आत्मा-मित्र है (अनात्मनः) 'मन, इन्द्रिय आदि अनात्माओं के (शत्रुत्वे) शत्रु होने पर 'वे नहीं बल्कि' (आत्मा-एव-शत्रुवत्-वर्तेते) आत्मा ही-शत्रु की तरह-वरत रहा होता है ॥२॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥३।६।७॥

(जितात्मनः) आत्मा को-जीतने वाले (प्रशान्तस्य) शांति शील 'पुरुष' का (परम-आत्मा) श्रेष्ठ-आत्मा (शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु) सर्दी-गर्मी-सुख 'और' दुःख में (तथा-मान-अपमानयोः) इसी प्रकार-मान 'और' अपमान में (समाहितः) समदर्शी रहता है। 'इस प्रकार आत्मा के उद्धार से साम्यबुद्धि की प्राप्ति हो जाती है ॥३॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकांचनः ॥४।६।८॥

(ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा) ज्ञान 'और' विज्ञान से-आत्मा को तृप्त करने वाला (कूटस्थः) विकार से रहित (विजित-इन्द्रियः २ इन्द्रियों को १ जीतने वाला (सम-लोष्ठ-अश्म-कांचनः-योगी) २ मिट्टी के ढेले ३ पत्थर 'और' ४ सोने में १ समान भाव रखने वाला योगी (युक्त-इति-उच्यते) योग सम्पन्न कहा जाता है ॥४॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ॥५।६।९॥

(सुहृत्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु) श्रेष्ठ हृदय वाला, मित्र-शत्रु-दो के झगड़े में उपेक्षा का भाव रखने वाला-झगड़े का निर्णय करने वाला-बुरा चाहने वाला-सौर हितैषी, इन सब में (साधुषु) सज्जनों में (च-पापेषु-अपि) और पापियों में-भी (समबुद्धिः) समान बुद्धि रखने वाला (विशिष्यते) बढ़ जाता है ॥५॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः ॥६।६।१०॥

(एकाकी-रहसि-स्थितः) अकेला एकान्त में-बैठा हुआ (यत-चित्त-आत्मा) २ चित्त-'और' ३ आत्मा का १ संयम करता हुआ (निर्-आशी) इच्छाओं से-रहित (अपरिग्रहः) ममता को छोड़कर(योगी-सततम्-आत्मा म्-युञ्जीत) योगी-निरन्तर-आत्मा को-ध्यान में लगावें ॥६॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य. स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं, चलाजिनकुशोत्तरम् ॥७।६।११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥८।६।१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं, दिशश्चानवलोकयन् ॥९।६।१३॥

(न-अति-उच्छ्रृतम्) न-बहुत ऊँचे (न-अति नीचम्) न-बहुत नीचे (चैल अजिन-कुश-उत्तरम्) कपड़े- मृगचर्म- 'और' कुशाओं से ढके हुए (आत्मनः-आसनम्) अपने आसन को (शुचौ-देशे-प्रतिष्ठाप्य) पवित्र-स्थान में-स्थिर करके यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः) २ चित्त और ३ इन्द्रियां की ४ क्रियाओं को १ रोकता हुआ (आसने-उपविश्य) आसन पर बैठकर (स्थिरः) निश्चल हुआ हुआ (काय-शिरः-ग्रीवम्) धड़-शिर 'और' गर्दन को (अचलम्-समम्-धारयन्) निश्चल सीधे रखता हुआ (स्वम् नासिका-अग्रम्-सम्प्रेक्ष्य) 'और' अपने-नासिका के अग्र भाग को देख कर (दिशः-अनव-लोकयन्) दिशाओं को-न देखता हुआ (आत्म-विशुद्धये) आत्मा की-शुद्धि के लिये (योगम्-युंज्यात्) योग का अनुष्ठान करे ॥७।८।९॥

संकल्पप्रभवान्कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥१०।६।२४॥

(संकल्प-प्रभवान्) संकल्प से-उत्पन्न होने वाली (सर्वान्-कामान्) सब कामनाओं को (अशेषतः-त्यक्त्वा) सम्पूर्ण रूप से छोड़ कर (इन्द्रिय-ग्रामम्) इन्द्रियों के झुण्ड को (मनसा-एव) मन से ही (समन्ततः-विनियम्य) सब ओर से-रोक कर ॥१०॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिदपिचिन्तयेत् ॥११।६।२५॥

(धृति-गृहीतया) धैर्य से-स्थिर की हुई (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (मनः-आत्म-संस्थम्-कृत्वा) मन को आत्मा में-स्थिर (करके

(शनैः-शनैः-उपरमेत) धीरे-धीरे शान्त हो (किंचित्-अपि) कुछ भी (न-चिन्तयेत) चिन्तन न करे ॥११॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१२।६।२६॥

(चञ्चलम्) चलायमान 'इसीलिये' (अस्थिरम्) न टिकने वाला (मनः-यतः-यतः-निश्चरति) मन-जिधर-जिधर से निकलता हो (ततः-ततः) उधर-उधर से (एतत्-नियम्य) इसे रोक कर (आत्मनि-एव) आत्मा में ही (वशम्-नयेत्) वश में-लावे ॥१२॥

"ध्यानयोग का पहला फल"—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१३।६।२८॥

(विगत-कल्मषः) २ पाप से-१ रहित (योगी-एवम्-आत्मानम्) योगी-इस प्रकार-आत्मा को (युञ्जन्) योग 'में' लगाता हुआ (सुखेन) आसानी से (ब्रह्म-संस्पर्शम्) ब्रह्म के सम्बन्ध से होने वाले (अत्यन्तम्-सुखम्) अत्यन्त सुख को=मोक्ष को (अश्नुते) भोगता है ॥१३॥

"ध्याननोग का दूसरा फल"—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥१४।६।२९॥

(योग-युक्त-आत्मा) योग से-सम्पन्न-आत्मा वाला पुरुष' (सर्वत्र-सम-दर्शनः) सब मे-सनदर्शी होता हुआ (आत्मानम्-सर्व-भूतस्थम्) अपने आपको-सब भूतों में (च-सर्व-भूतानि) और सब को (आत्मनि) अपने अन्दर, (ईक्षते) देखता है ॥१४॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥१५।६।३२॥

हे अर्जुन ! (यः) जो (आत्मा-औपम्येन) अपने समान (सर्वत्र) सब जगह (सुखम्-यदि वा-दुःखम्) सुख-या दुःख को (समम्-पश्यति)बराबर देखता है (सः) वह (परमः-योगी-मतः) उत्तम-योगी-माना गया है ॥१५॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिंस्थिराम् ॥१६।६।३३

अर्जुन ने कहा—(मधुसूदन) हे मधु का-नाश करने वाले (त्वया) तूने (यः अयम्-योगः) जो यह योग (साम्येन-प्रोक्तः) साम्य बुद्धि के लिये-कहा है (अहम्) मैं (चञ्चलत्वात्) 'मनके' चंचल होने के कारण (एतस्य) इस योग की (स्थितिम्) अवस्था को (स्थिराम-न-मन्ये) ठहरने वाली नहीं समझता ॥१६॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१७।६।३४॥

हे कृष्ण ! (मनः-चञ्चलम्-प्रमाथि-बलवत्-दृढ़म्) मन-चञ्चल-सताने वाला-बलवान् 'और' दृढ़ है। (तस्य) उस का (निग्रहम्) दमन (अहम्) मैं (वायोः-अपि) वायु से-भी (सुदुष्करम्) बहुत-कठिन (मन्ये) समझता हूं ॥१७॥

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥१८।६।३५॥

श्री कृष्ण ने कहा—(महाबाहो-कौन्तेय !) हे बड़ी भुजाओं वाले-कुन्ति पुत्र ! (असंशयम) निश्चय ही (मनः) मन (दुर्निग्रहम) कठिनता से वश में आने वाला 'और' (चलम) चञ्चल है। (तु) परन्तु (अभ्यासेन) अभ्यास से (च-वैराग्येण)और वैराग से (गृह्यते) वश में आता है ॥१८॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥१९।६।३६॥

(असंयत-आत्मना) संयम से रहित आत्मा वाले को (योगः दुष्प्रापः) योग-कठिनता से प्राप्त होता है (इति-मे-मतिः) यह-मेरा विचार है। (तु-यतता) परन्तु-यत्न करने वाले (वशी-आत्मना) संयमी-आत्मा को (उपायतः) यत्न से (प्राप्तुम् शक्यः) प्राप्त हो सकता है ॥१९॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥२०।६।३७॥

हे कृष्ण ! (अयतिः) आत्मा-का संयम न करते वाला (योगात्-चलित मानसः) योग से-डिगे हुए-चित्त वाला 'परन्तु' (श्रद्धया-उपेतः) श्रद्धा से युक्त 'पुरुष' (काम्-गतिम्-गच्छति) किस-गति को-प्राप्त होता है ॥२०॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥२१।६।३८॥

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (विमूढः) 'वह' भ्रान्त (ब्रह्मणः पथि) ब्रह्म के-मार्ग में (अप्रतिष्ठः) स्थिर न हुआ हुआ। (उभय-विभ्रष्टः) 'संसार और परलोक' दोनों और से

पतित हुआ-हुआ (छिन्न-अभ्रम-इव) फटे-मेघ की तरह (न-नश्यति) नष्ट तो नहीं हो जाता ॥२१॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥२२।६।३९॥

हे कृष्ण ! (मे-एतत्-संशयम) मेरे-इस संशय को (अशेषतः-छेत्तु म-अर्हसि) पूर्ण रूप से-दूर-करने के-तुम योग्य हो। (त्वत-अन्यः) तुमसे-दूसरा (अस्य-संशयस्य) इस-संशय का (छेत्ता) दूर करने वाला (न हि-उपपद्यते) सम्भव नहीं है ।२२।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥२३।६।४०॥

श्री भगवान् बोले—(पार्थ !) हे पृथापुत्र ! (तस्य) उस का (न-इह) न यहां 'और' (न-एव-अमुत्र) न-ही-परलोक में-(विनाशः-विद्यते) नाश-होता है। (तात !) हे प्रिय बन्धु ! (कश्चित्-कल्याणकृत्) कोई शुभ कर्म-करने वाला (दुर्गतिम्) बुरी गति को (न-गच्छति) नहीं प्राप्त होता है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥२४।६।४१॥

(योग-भ्रष्टः) योग से-पतित=योग में अपूर्ण 'मनुष्य' (पुण्य-कृतान्) करने वालों के (लोकान्-प्राप्य) लोकों को प्राप्त होकर (शाश्वतीः-समाः-उषित्वा) बहुत-वर्ष-'वहां' रह कर (शुचीनाम्-श्रीमताम्-गेहे) पवित्र धनवानों के-घर में (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥२४॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥२५।६।४२॥

(अथवा) या (धीमताम्-योगिनाम-एव) बुद्धिमान्-योगियों के-ही (कुले-भवति) कुल में उत्पन्न होता है। (हि-यत-ईदृशम्-जन्म) निश्चय-जो इस प्रकार का जन्म है (एतत्-लोके-दुर्लभतरम्) वह संसार में अत्यन्त दुर्लभ है ॥२५॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥२६।६।४३॥

(कुरु-नन्दन) हे कुरुओं के-आनन्ददाता ! (तत्र) वहां (तम्-पौर्व-देहिकम्) उस-पहिले-शरीर वाले (बुद्धि-संयोगम्-लभते) बुद्धि के-सम्बन्ध को-प्राप्त करता है। (च-ततः-भूयः) और, उस के-बाद-फिर (संसिद्धौ) अच्छी सिद्धि के लिये (यतते) यत्न करता है ॥२६॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥२७।६।४४॥

(सः अवशः-अपि) वह-परवश हुआ-हुआ (तेन-पूर्व-अभ्यासेन-एव) उस-पहिले अभ्यास से-ही, (ह्रियते) 'योगी की ओर' ले जाया जाता है। 'और' (योगस्य-जिज्ञासुः) योग की जिज्ञासा वाला 'वह' (शब्द-ब्रह्म-अपि) शब्द ज्ञान को भी (अति-वर्तते) पार कर जाता है=योग के विषय में जो कुछ भी वह पढ़ता सुनता है, उसके आगे का विषय अपने आप उसके अनुभव में आने लगता है ॥२७॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥२८।६।४५॥

(प्रयत्नात) उपाय से (यतमानः) यत्न करता हुआ (तु संशुद्ध-किल्विषः) १ और २ पाप से-२शुद्ध हुआ हुआ (अनेक-जन्म-संसिद्धः) अनेक-जन्मों में पवित्र होकर (ततः-परमाम्-गतिम्-याति) इसके बाद-उत्तम गति को-प्राप्त होता है ॥२८॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी;
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥२९।६।४६

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः ।

हे अर्जुन ! (योगी) ध्यान योगी 'सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों को सहन करने वाले' (तपस्विभ्यः) तपस्वियों से 'सदाचार के और संयम के नियमों का पालन करने वाले'(ज्ञानिभ्यः) ज्ञानियों से (च) और 'सकाम कर्म करने वाले' (कर्मिभ्यः) कर्म काण्डियों से (अधिकः-मतः) श्रेष्ठ माना गया है ।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

त्रयोदश अध्याय

भक्ति निरूपण

साम्य बुद्धि और आनन्द के प्राप्त कराने वाले ध्यान योग का वर्णन पहिले किया गया है । इस अध्याय में बतलाया गया है कि उसी ध्यान योग से मनुष्य परम पुरुष भगवान् के भी दर्शन कर सकता है, परन्तु यह तब होगा जब कि ध्यान योग के साथ भक्ति के रस का मेल कर दिया जावेगा । किसका ध्यान करें ? किस की भक्ति करें ? इन प्रश्नों के उत्तर में यहाँ भगवान् के स्वरूप का उपनिषदों की भाषा में व्याख्यान किया गया है । कहा है-भगवान्-वेदों की रचना करने वाले कवि, अनादि और सारे संसार पर शासन करने वाले हैं । वे सूक्ष्म से सूक्ष्म और सबको धारण करने वाले हैं । यद्यपि उसका स्वरूप इन्द्रियों की पहुँच से दूर है परन्तु फिर भी तमोगुण के पर्दे से निकल जाने पर आत्मा उस प्रकाश के पुञ्ज भगवान् का दर्शन कर लेता है । वर से चलने के बाद वानप्रस्थ और संन्यास काल में भ्रुकुटि में प्राणों का निरोध कर, मन को एकाग्र करते हुए, उस प्रकाश रूप भगवान् का ध्यान करना चाहिये । वेदवक्ता लोग इसी का व्याख्यान करते हैं, संयमी लोग इसी में प्रवेश करते हैं और ब्रह्मचारी लोग इसी की इच्छा करते हैं । परन्तु वह मिलता है अनन्य भक्ति से । वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान इन सब से प्राप्त होने वाला फल उस की प्राप्ति के सामने साधारण सी वस्तु है । परन्तु उसके पास पहुँचने का मार्ग जाता इन सब में से होकर ही है । यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भक्तियोग भी कर्मयोगी को उदार हृदय बनाता हुआ उसका सहायक है ।

त्रयोदश अध्याय

भक्ति योग

(भक्ति निरूपण)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥१।८।८॥

(न-अन्य-गामिना) अन्यत्र न जाने वाले (अभ्यास-योग-युक्तेन) ध्यान योग में-लगे हुए (चेतसा) चित्त से (अनुचिन्तयन्) 'भगवान् का' ध्यान करता हुआ (पार्थ) हे पृथापुत्र! (दिव्यम्-परमम्-पुरुषम्) प्रकाशवान् परम पुरुष 'भगवान् को' (याति) प्राप्त होता है ॥१॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२।८।९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥३।८।१०॥

(कविम्) वेदों की रचना करने वाले (पुराणम्) अनादि अनुशासितारम्) 'वेदों का' उपदेश करने वाले (अणोः-अणी

यासम्) सूक्ष्म से-अतिसूक्ष्म (सर्वस्य-धातारम्) सबका-धारण करने वाले (तमसः-परस्तात) अन्धकार से परे (आदित्य वर्णम्) प्रकाश रूप 'भगवान्' को (यः) जो (भक्त्या-च-एव-योग-बलेन-युक्तः) भक्ति और ध्यानयोग के बल से-सम्पन्न (प्राणम्-भ्रुवोः-मध्ये-सम्यक्-आवेश्य) प्राणों को-भ्रुकुटि के-बीच में-भली प्रकार-प्रवेश कराके (प्रयाण-काले) गृहस्थ से जाने के समय (अच-लेन-मनसा) निश्चल मन से (अनुस्मरेत) 'भगवान् का' स्मरण करता है। (सः) वह (तम्-दिव्यम्-परमम्-पुरुषम्) उस प्रकाश रूप परम-पुरुष को (उपैति) प्राप्त करता है ॥२।३॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥४।८।११॥

(वेदविदः) वेद के जानने वाले (यत्-अक्षरम्) जिस-अविनाशी का (वदन्ति) व्याख्यान करते हैं। (वीतरागाः) वैराग्य सम्पन्न (यतयः) संयमी 'लोग' (यम्-विशन्ति) जिसमें-प्रवेश करते हैं। (यत-इच्छन्तः) जिसकी-इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्यम्-चरन्ति) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। (तत्-पदम्) उस-प्राप्त करने योग्य का (ते-संग्रहेण-प्रवक्ष्ये) तुझे संक्षेप से उपदेश करता हूं ॥४॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥५।८।१२॥

पार्थ) हे पृथापुत्र ! (सः) वह (अनन्यया-भक्त्या लभ्यः) असाधारण-भक्ति से-प्राप्त होने वाला (परः-पुरुषः) परम-पुरुष

'भगवान् हैं (भूतानि-यस्य-अन्तः स्थानि) 'सारे' प्राणी जिस के अन्दर विद्यमान हैं (येन-इदम्-सर्वम्-ततम) जिस ने-यह सब 'संसार' फैलाया=रचा है ॥५॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥६।८।२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः ।

(इदम्-विदित्वा) इस-'ब्रह्म को' जान कर (वेदेषु-यज्ञेषु-तपःसु-च एव-दानेषु) वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान 'इन सबके करने पर' (यत्-पुण्य-फलम्) जो पुण्य-रूप-फल (प्रदिष्टम्) दिखलाया है=कहा है । (योगी-तत्-सर्वम् अत्येति) योगी-उस-सबको-पीछे छोड़ जाता है । (च-आद्यम्-परम्-स्थानम्-उपैति) और-प्रधान उत्कृष्ट-पद 'भगवाम्' को प्राप्त होता है ॥६॥

यह श्रीमद्भगवद्गीता का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

चतुर्दश अध्याय

ज्ञान तथा ज्ञेय निरूपण

तेरहवें अध्याय में महाराज ने अर्जुन के पूछने पर कर्मयोग
में अधूरा रहने वाले मनुष्य की गति का वर्णन किया था । अब
इस बात की आवश्यकता थी कि उन साधनों को बतलाया जावे
जिन के सहारे से मनुष्य कर्मयोग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचने
में सफल हो सके । इस अध्याय में उन्हीं साधनों का उल्लेख किया
गया है । महाराज ने उन साधनों का न:म रक्खा है ज्ञान । गीता
का यह ज्ञान दार्शनिक लोगों के ढंग का ज्ञान नहीं है । वे लोग
ज्ञान उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप को जाना जाता है,
अथवा सत्य और असत्य का विवेक किया जाता है । उसका नाम
गीताकार ने विज्ञान रक्खा है, और उसका वर्णन पन्द्रहवें अध्याय
से आरम्भ होगा । दार्शनिक लोग उसे तत्वज्ञान कहते हैं । ज्ञान
के नाम से गीता में सदाचार के कुछ नियम बतलाये गये हैं ।
ऐसे ही नियमों को योग दर्शन में यम और नियम के नाम से
और मनुस्मृति में धर्म के नाम से पुकारा गया है । योगदर्शन के
यम नियम तत्वज्ञान के साधन हैं, और गीता का ज्ञान, विज्ञान
का साधन है । यही कारण है कि सदाचार के इन नियमों का
विज्ञान से पहिले वर्णन किया गया है । और विज्ञान का साधन
होने के कारण ही इन नियमों को ज्ञान का नाम दिया गया है ।
इसके साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह ज्ञान जहां
विज्ञान का साधन हैं, ज्ञान और विज्ञान दोनों ही कर्मयोग के भी
साधन हैं । ज्ञान के इन नियमों में अन्त का नियम है "तत्व-
ज्ञानार्थदर्शनम्" (यथार्थ ज्ञान से पदार्थ को जानना) यद्यपि

तत्वज्ञान से और पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है, परन्तु मुख्य लक्ष्य तत्वज्ञान का भगवान् के स्वरूप का ज्ञान ही है, और इसी लिये जगदीश्वर को ही इस अध्याय में ज्ञेय का नाम दिया गया है। इस अन्तिम नियम का विषय समझने के लिये उस ज्ञेय का निरूपण भी इस अध्याय में करना ही चाहिये था, और इस लिये यहाँ भगवान् के स्वरूप का कुछ वर्णन भक्तियोग के प्रकरण में किया गया था और कुछ यहाँ किया गया है। यह सत्ता संसार की वस्तुओं की तरह इन्द्रियों का विषय नहीं। परन्तु वह अभाव रूप भी नहीं है। यह कैसे ? देखो और समझो। देखो भगवान् के हाथ, पैर, आंख, शिर, मुँह और कान कहीं दिखाई न देंगे, परन्तु इन इन्द्रियों से होने वाले कार्य सृष्टि में सर्वत्र हो रहे हैं क्या बिना चले, बिना पकड़े, बिना देखे, बिना समझे, बिना आज्ञा के वचनों का उच्चारण किये और बिना सुने कोई मनुष्य किसी छोटे से परिवार का भी प्रबन्ध कर सकता है। यदि नहीं तो क्या इतने बड़े संसार चक्र का संचालन इन शक्तियों के बिना कभी किया जा सकता है ? नहीं, कभी नहीं। अतः विवश हमें यह कहना ही पड़ेगा, कि यद्यपि उस सूक्ष्म सत्ता का शरीर न होने से उस की इन्द्रियें नहीं हैं। परन्तु वह ऐसी शक्तियों का स्वामी है जिनसे इन्द्रियों जैसे कार्य किये जा सकते हैं। वह असंग होता हुआ सबको धारण करता है, निर्गुण होता हुआ गुणों का संचालन करता है, और सर्वत्र पहुँचा हुआ है परन्तु अचल है। वह व्यापक होने से दूर और समीप भी है। सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वह विधाता है। यद्यपि सूक्ष्म होने से उसका जानना कठिन है परन्तु तमोगुण का पर्दा हटते ही ज्ञान के द्वारा उसके प्रकाश स्वरूप का दर्शन कर ज्ञानी उसे हृदय में ही प्राप्त कर लेता है।

चतुर्दश अध्याय

ज्ञान योग

'ज्ञान-निरूपण'—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१।९।१।

(ते) तुझ (अनसूयवे) अनिन्दक के लिये (इदम्) इस (गुह्यतमम) अत्यन्त गुप्त (विज्ञान-सहितम्-ज्ञानम) विज्ञान के साथ ज्ञान को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा, (यत्-ज्ञात्वा) जिसे जान कर (अशुभात्) अमंगल से=योग भ्रष्ट होने से (मोक्ष्यसे) बच जावेगा ॥१॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।२।१३।७।

(अमानित्वम्) अभिमान का त्याग (अदम्भित्वम्) कपट का त्याग (अहिंसा) हिंसा का त्याग (क्षान्तिः) सहनशीलता (आर्जवम) सरलता (आचार्य-उपासनम्) आचार्य के गुणों का अनुसरण (शौचम्) 'शरीर, आत्मा और मन की' शुद्धि (स्थैर्यम्) दृढ़ता (आत्म-विनिग्रहः) आत्मा का संयम ॥२॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।३।१३।८।

(इन्द्रिय-अर्थेषु) इन्द्रियों के-विषयों में (वैराग्यम्) वैराग्य

(च-एव) और (अन्-अहंकारः) अहंकार का त्याग (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम्) उत्पत्ति-मरण-बुढ़ापा 'और' रोग इनके' दुःखों और दोषों को देखना ॥३॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥४।१३।९॥

(असक्तिः) विषयों के संग का त्याग (पुत्र-दार-गृह-आदिषु) पुत्र-स्त्री-घर-आदि में (अनभिष्वंगः) विशेष सम्बन्ध न रखना (च-इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु) और इच्छा के अनुकूल 'तथा' इच्छा के विरुद्ध 'वस्तु की' प्राप्ति में (नित्यम्-समचित्तत्वम) सदा-चित्त को एक रस रखना ॥४॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥५।१३।११॥

(अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्) अन्तरात्मा के-ज्ञान में-तत्पर रहना (तत्वज्ञान-अर्थ-दर्शनम्) यथार्थ ज्ञान से-विषयों को जानना (एतत्) यह (ज्ञानम्-इति) ज्ञान (प्रोक्तम्) कहा है। (यत्-अतः-अन्यथा) जो-इसके-विपरीत है (अज्ञानम्) वह अज्ञान है ॥ ॥

'ज्ञेय निरूपण'—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न तत्सन्नासदुच्यते ॥६।१३।१२॥

(यत्-ज्ञेयम) जो-जानने योग्य है (यत-ज्ञात्वा) जिसे जानकर (अमृतम्-अश्नुते) मोक्ष भोगता है। (तत्-प्रवक्ष्यामि) उसे-कहूंगा। (अनादिमत्-परम-ब्रह्म) 'वह' अनादि-पर-ब्रह्म 'है'

(तत्-न-सत्) वह न-सत्=स्थूल जगत की तरह दीखने वाला (न-असत) 'और' न अभाव रूप (उच्यते) कहा जाता है ॥६॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥७।१३।१३॥

(तत्-सर्वतः-पाणिपादम) वह-सब और-हाथ पैरों वाला (सर्वतः-अक्षि-शिर-मुखम्) सब ओर-आंख शिर 'और' मुख वाला (सर्वतः-श्रुतिमत्) सब ओर कानों वाला (लोके) 'और' संसार में (सर्वम्-आवृत्य-तिष्ठति) सब को-व्याप्त करके-ठहरा हुआ है, अर्थात् उसके पैरों, हाथों, आंख, शिर. मुँह और कानों से होने वाले कार्य सर्वत्र उसकी व्यापक-शक्ति से स्वयं हो रहे हैं ॥७॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥८।१३।१४॥

'वह' (सर्व-इन्द्रियगुण-आभासम्) सब इन्द्रियों के गणों की झलक से युक्त, 'और' (सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्) सब इन्द्रियों से-रहित है। (असक्तम्-च-एव-सर्वभृत) असङ्ग-और सब का धारण करने वाला, (निर्गुणम्) गुणों से रहित (च) और (गुण-भोक्तृ) गुणों का पालन करने वाला=उनको कार्य के अनुकूल करने वाला है ॥८॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥९।१३।१५॥

(तत्) वह (भूतानां) भूतों के (अन्तः-च-बहिः) अन्दर-और-बाहर-भी है। (अचरम-च-एव-चरम्) गति से रहित और-गति-वाला=सब को गति देने वाला है। (तत्-सूक्ष्मत्वात्-अवि-

ज्ञेयम्) वह सूक्ष्म होने से-ज्ञान से गम्य नहीं (तत्-दूरस्थम्) वह 'सर्व-व्यापक होने से' दूर (च-अन्तिके) और-समीप भी है ॥९॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१०।१३।१६॥

(तत्) वह (भूतेषु) भूतों में (अविभक्तम्) संयुक्त है, 'परन्तु सूक्ष्म होने से' (विभक्तम्-इव) संयुक्त न होने की-तरह (स्थितम्) वर्तमान है। (च-तत्) और-उसे (भूतभर्तृ प्रभविष्णु च-ग्रसिष्णु-ज्ञेयम्) भूतों का पालन करने वाला-उत्पन्न करने वाला और-प्रलय करने वाला समझना चाहिये ॥१०॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्याधिष्ठितम् ॥११।१३।१७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः ।

(तत्-ज्योतिषाम्-अपि ज्योतिः) वह प्रकाशों का भी प्रकाश (तमसः-परम्) तमोगुण से परे। (ज्ञान-ज्ञेयम्) ज्ञान का-विषय (ज्ञानगम्यम्) ज्ञान से प्राप्त होने वाला, (सर्वस्य-हृदि) सब के हृदय में (अधिष्ठितम्) विद्यमान (उच्यते) कहा जाता है ॥११॥

श्रीमद्भगवद्गीता का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

—०—

सार और संगनि

पञ्चदश अध्याय

गुणकार्य विवेक तथा गुणातीत लक्षण

चौदहवें अध्याय में ज्ञान का निरूपण किया गया है। सदाचार के मुख्य नियमों का नाम ज्ञान है। उन नियमों का पालन करने के बाद ही मनुष्य कर्मयोग का अधिकारी बनता है। कर्मयोग की अन्तिम सीमा तक पहुंचने के लिये तीनों गुणों को पार करना पड़ता है। गुणों से ऊँचा उठने के लिये गुणों की विशेषता और उनके कार्यों का ज्ञान करना पड़ता है। इसी का नाम विज्ञान है। महाराज ने इस अध्याय में इसी विषय का व्याख्यान किया है। सत्व रज और तम, सुख, प्रवृत्ति और प्रमाद आदि अपने कार्यों से, मनुष्य को संसार के बन्धन में बांधते हैं। सत्वगुण का प्रकाश रजोगुण का राग और तमोगुण का मोह स्वरूप है। ज्ञान के बढ़ने पर सत्वगुण, लोभ के बढ़ने पर रजोगुण और आलस्य के बढ़ने पर तमोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिये। गुणों के प्रभाव में आया हुआ मनुष्य किसी-न-किसी कामना से ग्रस्त हो ही जाता है। इस लिये कर्मयोगी को गुणों से ऊँचा उठना पड़ता है। गुणातीत मनुष्य को गुण विचलित नहीं कर सकते। गुणोंके काम में लगे रहने पर उसे द्वेष नहीं होता, और कार्य से हट जाने पर उसकी अभिलाषा नहीं होती। वह उदासीन की तरह रहता है। सुख और दुःख भी मिलने पर उसे हर्ष या शोक नहीं होता। सुवर्ण और मिट्टी को वह एक समान समझता है। मित्र और शत्रु में उसे भेद प्रतीत नहीं होता। कोई प्रवृत्ति उसे खींचती नहीं। ऐसे ही पुरुष को गुणातीत कहा जाता है। और गुणातीत ही कर्मयोग की अन्तिम सीमा तक पहुँचने में सफल होता है।

पञ्चदश अध्याय

विज्ञान योग

'गुण-कार्य-विवेक'

परं भूयः प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे, परां सिद्धिमितोगताः ॥१।१४।१॥

(परम्) उत्कृष्ट 'और' (ज्ञानानाम-उत्तमम्) ज्ञानों में श्रेष्ठ (ज्ञानम्-भूयः-प्रवक्ष्यामि) ज्ञान को-फिर कहता हूं। (यत्-ज्ञात्वा-जिसे जानकर (सर्वे-मुनयः) सब-मुनि (इतः) यहां (पराम-सिद्धिम्-गताः) उत्तम-सिद्धि को-प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

सत्वं रजस्तम इति, गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनमव्ययम् ॥२।१४।५॥

(महाबाहो !) हे बड़ी भुजाओं वाले 'अर्जुन' ! (प्रकृति-संभवाः) प्रकृति से प्राप्त होने वाले (सत्वम्-रजः-तम-इति-गुणाः) सत्व-रज 'और' तम ये गुण (अव्ययम्) विकार से रहित (देहिनम्) देहधारी=आत्मा को (देहे) शरीर में (निब-ध्नन्ति) बांधते हैं ॥ २ ॥

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् , प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नन्ति, ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥३।१४।६॥

(अनघ !) हे निष्पाप 'अर्जुन' ! (तत्र) उन में से (निर्म-लत्वात्) निर्मल होने के कारण (प्रकाशकम) प्रकाश करने वाला

'और' (अनामयम) रोग से रहित (सत्वम्) सत्व गुण 'प्रका-शक है इस लिये'(ज्ञान-सङ्गेन) ज्ञान के सम्बन्धसे 'और' नीरोग है इसलिये' (सुख-संगेन) सुख के-सम्बन्ध से (बध्नाति) बांधता है ॥ ३ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥४।१४।७॥

(कौन्तेय) हे कुन्तिपुत्र ! (रजः) रजोगुण को (राग-आत्मकम्) राग-स्वभाव वाला (तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम) तृष्णा 'और' आसक्ति को-उत्पन्न करने वाला (विद्धि) जान। (तत्) वह (देहिनम) शरीर धारी को (कर्मसङ्गेन) प्रवृत्ति के-सम्बन्ध से (निबध्नाति) बांधता है ॥ ४ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥५।१४।८॥

(भारत !) हे भरत सन्तान ! (तमः-तु) तमोगुण को तो (अज्ञानजम) अज्ञान से उत्पन्न होने वाला (सर्व-देहिनाम्-मोह-नम्) सब-शरीरधारियों का-मोहने वाला (विद्धि) जान। (तत्) वह प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः) भूल-आलस्य-'और'-नींद से (निबध्नाति) बांधता है ॥ ५ ॥

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥६।१४।९॥

(भारत !) हे भरत सन्तान ! (सत्वम्-सुखे) सत्वगुण-सुख में (रजः-कर्मणि) 'और' रजोगुण-प्रवृत्ति में (सञ्जयति) आसक्त करता है । (तु-उत-तमः) परन्तु-तमोगुण (ज्ञानम्-

आवृत्य) ज्ञान को ढक कर (प्रमादे) कर्तव्य की भूल में (सञ्जयति) लगाता है ॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥७।१४।१०॥

हे भारत ! (रजः-च-तमः-अभिभूय) रजोगुण और तमोगुण को-दबा कर (सत्वम्) सत्वगुण (रजः-च-एव-सत्वम्-तमः) रजोगुण-और-सत्वगुण को 'दबा कर' -तमोगुण और' (तथा-सत्वम् तमः-रजः) इसी प्रकार सत्वगुण 'और' तमोगुण को 'दबाकर' रजोगुण (भवति) 'प्रबल होता है ॥७॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्वमित्युत ॥८!१४।११॥

(अस्मिन्-देहे) इस शरीर में (यदा) जब (सर्वद्वारेषु) सब छिद्रों में (प्रकाशः-उपजायते) ज्योति प्रकट होती है (तदा) तब [सत्वम्-विवृद्धम्] सत्व-गुण बढ़ गया है [इति-उत-विद्यात्] यह समझे ॥८॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥९।१४।१२॥

[भरत-ऋषभ ! हे भरत-श्रेष्ठ ! [लोभः-प्रवृत्तिः-कर्मणाम्-आरम्भः] लोभ-प्रवृत्ति कार्यों का आरम्भ [अशमः] अशान्ति [स्पृहा] प्रबल इच्छा [एतानि] ये [रजसि-विवृद्धे] रजोगुण के-बढ़ने पर [जायन्ते] उत्पन्न होते हैं ॥९॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१०।१४।१३॥

हे कुरुनन्दन ! (अप्रकाशः) 'अज्ञान रूप' अन्धकार (अप्रवृत्तिः) कर्म में न लगना, (प्रमादः) भूल (च-मोहः) और-मोह (एतानि-एव ; ये-ही (तमसि-प्रवृद्धे-जायन्ते) तमोगुण-बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥१० ॥

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकान् , अमलान्प्रतिपद्यते ॥११।१४।१४॥

(यदा-तु) जब-कि (देहभृत्) शरीरधारी (सत्वे-प्रवृद्धे) सत्वगुण बढ़ने पर (प्रलयम्-याति) मृत्यु को-प्राप्त होता है (तदा) तब (उत्तमविदाम्) उत्तम ज्ञान वालों = विज्ञानियों के (अमलाम्) निर्मल = प्रकाश वाले (लोकान्-प्रतिपद्यते) लोकों को प्राप्त होता है ॥११॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१२।१४।१५॥

(रजसि) रजोगुण में = रजोगुण की वृद्धि में (प्रलयम्-गत्वा) मृत्यु को-प्राप्त होकर (कर्म-सङ्गिषु) कर्मशीलों में = कर्म करने वालों में (जायते ; उत्पन्न होता है । 'और' (तथा-तमसि-प्रलीनः) उसी प्रकार-तमोगुण 'की वृद्धि में' भरा हुआ (मूढ-योनिषु) अज्ञानी-योनियों में (जायते) उत्पन्न होता है ॥१२॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१३ १४।१६॥

(सुकृतस्य-कर्मणः) पुण्य — सात्विक कर्म का (सात्विकम्-निर्मलम्-फलम) सत्वगुणी-निर्मल-फल (रजसः) रजोगुणी कर्म का' (दुःखम्-फलम) दुःख-फल (तु-तमसः) और तमोगुणी का' (अज्ञानम्-फलम्) अज्ञान-फल (आहुः) कहते हैं ॥१३॥

सत्वासंजायते ज्ञानं रजसा लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसा भवतोऽज्ञानमेव च ॥१४।१४।१७॥

(सत्वात्-ज्ञानम्-सञ्जायते) सत्वगुण से-ज्ञान उत्पन्न होता है। (रजसः-लोभः-एव) रजोगुण से-लोभ ही (तमसः) और-तमोगुण से (प्रमाद-मोहौ) भूल, 'और' मोह (भवतः) उत्पन्न होते हैं। (च-एव-अज्ञानम) और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥१४॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्येतिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१५।१४।१८॥

(सत्व-स्थाः) सत्वगुण में-रहने वाले 'मनुष्य' (ऊर्ध्वम्-गच्छन्ति)ऊपर जाते हैं (राजसाः) रजोगुणी (मध्ये-तिष्ठन्ति) बीच में-रहते हैं। 'और' (जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः) नीच गुण की वृत्ति वाले (तामसाः) तमोगुणी (अधः-गच्छन्ति) नीचे जाते हैं ॥१५॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतश्नुते ॥१६।१४।२०॥

(देही) शरीरधारी (देह-समुद्भवान्) शरीर में होने वाले (एतान्-त्रीन-गुणान्) इन-तीन-गुणों को (अतीत्य) पार करके (जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः) जन्म-मौत 'और' बुढ़ापे के-दुःखों से (विमुक्तः) छूटा हुआ (अमृतम्-अश्नुते) मोक्ष को भोगता है ॥१६॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीगुन्णानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथ चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥१७।१४।२१॥

अर्जुन ने कहा-- (प्रभो !) हे स्वामिन् ! (एतान्-त्रीन्-गुणान्) इन तीन गुणों को [कैः-लिङ्गैः] किन चिह्नों से [अतीतः-भवति] पार-होता है=पार करता है। [किम्-आचारः] कैसे-आचार वाला [च-कथम्] और कैसे [एतान्-त्रीन्-गुणान्] इन-तीन गुणों को [अतिवर्तते] नीचे छोड़ जाता है ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१८।१४।२२॥

श्री कृष्ण ने कहा—[पाण्डव] हे पाण्डु पुत्र ! [प्रकाशम्-च] सत्वगुण [प्रवृत्तिम्-च] रजोगुण [च-एव-मोहम्] और तमोगुण 'इन' [प्रवृत्तानि] काम में लगे हुओं के साथ [द्वेष्टि-न] द्वेष नहीं करता। 'और' [निवृत्तानि] कार्य से हटे हुओं की [न-कांक्षति] अभिलाषा नहीं करता ॥१८॥

'गुणातीत लक्षण' =

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥१९।१४।२३॥

[यः-उदासीनवत्-आसीनः] जो-उदासीन की तरह रहता हुआ [गुणैः] गुणों से [न-विचाल्यते] विचलित नहीं किया जाता। (गुणाः-वर्तन्ते) गुण 'अपना' व्यापार कर रहे हैं (इति-एव) ऐसा समझता हुआ ही (यः-अवतिष्ठति) जो-स्थिर रहता है (न-इङ्गते) नहीं-हिलता ॥१९॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाँचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२०।१४।२४॥

(सम-दुःख-सुखः) २ दुःख 'और' ३ सुख में १ समान (स्वस्थ) सभला हुआ (सम-लोष्ठ-अश्म-कांचनः) २ ढेला-३ पत्थर 'सुवर्ण में १ समान भाव वाला (तुल्य-प्रिय-अप्रियः) २ प्रेमी 'और' शत्रु में १ समान. (धीरः) धीरज वाला (तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः) २ बुराई ३ 'और' अपनी प्रशंसा को १ समान समझने वाला ॥२०॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२१।१४।२५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः ।

(मान-अपमानयोः) आदर 'और' अनादर में (तुल्यः) समान (मित्र-अरिपक्षयोः-तुल्यः) मित्र-'और' शत्रु पक्ष में-समान (सर्व-आरम्भ-परित्यागी) सब प्रवृत्तियों का त्याग करने वाला जो हो' (सः) वह (गुणातीतः) गुणातीत (उच्यते) कहा जाता है ॥ २१ ॥

यह श्रीमद्भगवद्गीता का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।



सार और संगति

षोडश अध्याय

दैव-आसुर भाव-विवेक

पन्द्रहवें अध्याय में गुणों का विवेचन कर गुणातीत का स्वरूप बतलाया है। अर्जुन अभी गुणातीत पद का अधिकारी न था। इसलिये उसे महाराज सत्वगुण की महिमा प्राप्त होने वाली दैवी सम्पत्ति की ओर चलने की प्रेरणा करते हुए, और उसका उसे यथार्थ अधिकारी बतलाते हुए इस अध्याय में दैवी और आसुरी दोनों सम्पत्तियों की व्याख्या करते हैं। निर्भयता, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, भूतों पर दया, लोभ का त्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, अभिमान का त्याग आदि ज्ञानयोग में वर्णन किये गये गुण ही दैवी सम्पत्ति वाले मनुष्य की सम्पत्ति होते हैं। इस के विपरीत कपट, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति के चिह्न हैं। इन दोनों सम्पत्तियों का वर्णन कर महाराज ने कहा, अर्जुन! चिन्ता न करो, तुम दैवी सम्पत्ति के अधिकारी हो। कर्मयोग के मार्ग में चलना तुम्हारे लिये कुछ भी कठिन नहीं है। इसके आगे चल-कर अर्जुन को विपरीत मार्ग से बचाने के लिये महाराज ने आसुरी भूतसृष्टि का विस्तार से वर्णन किया है। कहा है—आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। शौच, आचार और सत्य उनके समीप नहीं आते। न वे ईश्वर को मानते हैं और न जगत् की सत्यता को। वे संसार की उत्पत्ति कामवासना से

मानते हैं, और कामवासना से ही प्रत्येक कार्य करते हैं। अपनी इस निकृष्ट भावना से वे संसार को हानि ही पहुँचाते हैं लाभ नहीं। उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती और इसी के कारण अनेक चिन्ताओं के ग्राम बन जाते हैं। अपनी कामना की पूर्ति के लिये वे अन्याय से धन का संग्रह करते हैं। वे अपने आपको ही सबसे बड़ा और सब कुछ समझते हैं। और यदि कोई यज्ञ भी करते हैं तो कपट से, और विधि का उल्लङ्घन करते हुए। अर्जुन! तमोगुण की सृष्टि काम, क्रोध और लोभ ही इनसे ये सब दुष्कर्म कराते हैं। इसलिये इनका त्याग कर, कर्मयोग शास्त्र की विधि से कर्म कर। कर्म योग शास्त्र की विधि को छोड़ कर फल कामना से कर्म करने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

★

षोडश अध्याय
विज्ञान योग

(दैव-आसुर भाव-विवेक)

अभयं सत्वसंशुद्धिः; ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।१।

हे भारत! (अभयम्) निडर होना (सत्वसंशुद्धिः) अन्तः-करण की शुद्धि (ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः) ज्ञान योग में दृढता (दानम्-दमः-यज्ञः) दान देना-इन्द्रियों का दमन करना-लोक-हित की भावना से कर्म करना (स्वाध्याय, तपः-आर्जवम्) धर्म ग्रन्थों का पढ़ना सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का सहना सरलता ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधः, त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवम् ह्रीरचापलम्।२।

(अहिंसा) मन वाणी और कर्म से किसी को कष्ट न देना (सत्यम्) सत्य बोलना (अक्रोधः) क्रोध न करना (त्यागः-शान्तिः) त्याग 'और' शान्ति (अपैशुनम) चुगली न करना (भूतेषु-दया) प्राणियों पर दया (अलोलुपत्वम) लोभी न होना (मार्दवम्-ह्रीः) नम्रता 'और' लज्जा (अचापलम्) चंचल न होना ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचं, अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।३।

(तेजः) प्रताप (क्षमा) सहनशीलता (धृतिः) धैर्य (शौचम) 'अन्दर और बाहर की' शुद्धि (अद्रोहः) वैर का त्याग (च-अतिमानिता-न) और-अधिक मान का-न होना 'ये सब गुण (दैवीम्-सम्पदम्-अभिजातस्य) दैवी-सम्पत के-साथ उत्पन्न हुए हुए के (भवन्ति) हैं ॥३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (दम्भः-दर्पः-च-अभिमानः) कपट-गर्व और अहंकार (क्रोधः-पारुष्य) क्रोध और कठोरता (च-अज्ञानम्) तथा अज्ञान (आसुरीम्-सम्पदम्-अभिजातस्य) आसुरी-सम्पत्ति के साथ-उत्पन्न हुये पुरुष के 'गुण' (भवन्ति) होते है ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीं, अभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

(दैवी-सम्पत) दैवी सम्पत्ति (विमोक्षाय) मोक्ष के लिये (आसुरी-निबन्धाय-मता) 'और' आसुरी सम्पत बन्धन का हेतु मानी-गई है। (पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र (माशुचः) शोक-न कर (दैवीम्-सम्पदम) दैवी सम्पत्ति के साथ (अभिजातः-असि) उत्पन्न हुए हो ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् , दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।६।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (अस्मिन्-लोके) इस लोक में (दैवः-च-एव-आसुरः) दैव और आसुर (द्वौभूत-सर्गौ) दो प्रकार की-भूतों की सृष्टि 'है' (दैव-) दैव सर्ग को (विस्तरशः-प्रोक्तः)

विस्तार से-कह चुके हैं। (आसुरम्-मे-शृणु) आसुर को-मुझ से-सुन ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

(प्रवृत्तिम्-च-निवृत्तिम्) प्रवृत्ति और निवृत्ति को = कर्तव्य और अकर्तव्य को (आसुराः-जनाः) आसुर सम्पत्ति वाले-लोग (न-विदुः) नहीं जानते। (तेषु) उनमें (न-शौचम्) न-शुद्धि (न-अपि-आचारः) न-ही आचार (च-न-सत्यम) और-न सत्य (विद्यते) होता है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।८।

(ते) वे (जगत) संसार को (असत्यम) मिथ्या (अप्रतिष्ठम्) निराधार (अनीश्वरम्) ईश्वर के बिना (अपरस्पर-सम्भूतम्) एक दूसरे की 'सत्ता मात्र से' नहीं हुआ (किमन्यत्) और क्या कारण है (काम-हैतुकम्) 'स्त्री पुरुष शक्तियों की' काम वासनाएँ इसमें कारण हैं।।८॥

तात्पर्य—जब सारा संसार ही काम से पैदा हुआ है तो काम वासना से ही इसमें कर्म करने चाहिये।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

(नष्ट-आत्मानः) भ्रान्त आत्मा वाले (अल्प-बुद्धयः) थोड़ी बुद्धि वाले (उग्र-कर्माणः) क्रूर कर्म वाले 'इसी लिये' (जगतः-अहिताः) 'संसार के-शत्रु ये लोग' (एताम्-दृष्टिम्-अवष्टभ्य) इस

मत को हठ से मान कर (क्षयाय-भवन्ति) सर्वनाश के साधन होते हैं ॥६॥

कामम।श्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

(दम्भ-मान-मद-अन्विताः) कपट अभिमान 'और' मस्ती से-युक्त- (अशुचि-व्रताः) अपवित्र धारणा वाले ये लोग' (मोहात्-असत्-ग्राहान्-गृहीत्वा) भ्रान्ति से-झूठे विचारों को-ग्रहण कर (प्रवर्तन्ते) काम में लगते हैं ॥११॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

(प्रलयान्ताम्) सर्व नाश करने वाली (अपरिमेयाम्) अतुल =बेअन्दाज (चिन्ताम्-उपाश्रिताः) चिन्ता से-घिरे हुए (काम-उपभोग-परमाः) काम वासनाओं की-पूर्ति को-उत्कृष्ट समझने वाले (एतावत्-इति-निश्चिताः) इतना=कामनाओं का उपभोग ही 'तत्व है' यह निश्चय किये हुए ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थं अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

(आशाः-पाशशतैः-बद्धाः) आशाओं के-सैकड़ों जालों से-बंधे हुए (काम-भोग-अर्थम) विषयों के-भोग के-किये (अन्यायेन) अनीति से (अर्थ-सञ्चयान्) धन के-ढेरों को (ईहन्ते) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धं इमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

(इदम्-अद्य-मया-लब्धम्) यह आज मैंने प्राप्त किया,(इमम्-मनोरथम्-प्राप्स्ये) इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा। (इदम्-अस्ति) यह है (इदम्-अपि-धनम्-मे-पुनः-भविष्यति) यह भी धन मेरा-फिर हो-जायेगा ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुः हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

(असौ-शत्रुः-मया-हतः) यह शत्रु मैंने मार दिया है, (च-अपरान्-अपि-हनिष्ये) और-औरों को-भी-मारूँगा। (अहम्-ईश्वरः) मैं ऐश्वर्य वाला हूं, (अहम्-भोगी) मैं भोगों से सम्पन्न हूं, (अहम्-सिद्धः-बलवान्-सुखी) मैं सिद्ध बलवान् 'और' सुखी हूँ ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि,

कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये,

इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

(आढ्यः-अभिजनवान्-अस्मि) 'मैं' धनी-देश का स्वामी हूं (मया-सदृशः-अन्यः-कः-अस्ति) मेरे-जैसा-और-कौन-है। (यक्ष्य दास्यामि-मोदिष्ये) यज्ञ करूँगा-दान दूँगा 'और' आनन्द लूटूंगा (इति-अज्ञान-विमोहिताः) इस प्रकार के अज्ञान से मूढ हुए।१५।

अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

(अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः) अनेक विचारों वाले-भ्रान्त हुए, हुए (मोह-जाल-समावृताः) मोह के-जाल से-घिरे हुए, (काम-

भोगेषु-प्रसक्ताः) विषय वासनाओं के-भोगों में-फंसे हुए, 'ये लोग' (अशुचौ-नरके-पतन्ति) अपवित्र-नरक में गिरते हैं ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भोनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

(आत्म-सम्भाविताः) 'आप' अपनी बढ़ाई करने वाले (स्तब्धाः) अकड़े हुए (धन-मान-मद-अन्विताः) धन के-अभिमान 'और' नशे से भरे हुए (ते) वे 'लोग' (यज्ञैः) यज्ञों से (दम्भेन-अविधिपूर्वकम्) कपट से-विधि के बिना ही (यजन्ते) यज्ञ करते हैं ॥१७॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६।२१॥

(आत्मनः-नाशनम्) आत्मा का-नाश करने वाला (नरकस्य-इदम्-त्रिविधम्-द्वारम्) नरक का-यह तीन प्रकार का दर्वाजा है। (कामः-क्रोधः-तथा-लोभः)। काम क्रोध और लोभ । (तस्मात्-एतत् त्रयम्-त्यजेत्) इस लिये-इन तीनों को छोड़ दे ॥८॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयः ततो याति परां गतिम् ॥१६।२२॥

(कौन्तेय) हे कुन्ति पुत्र ! (नरः) मनुष्य (एतैः-त्रिभिः-तमः-द्वारैः-विमुक्तः) इन-तीन तमोगुण के-दर्वाजों से-छूटा हुआ (आत्मनः-श्रेयः-आचरति) अपना कल्याण-करता है। (ततः-पराम्-गतिम्-याति) फिर-परम-गति को-प्राप्त होता है ॥१६॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२०।१६।२३॥

(यः-शास्त्र-विधिम्-उत्सृज्य) जो-शास्त्र विधि को-छोड़ कर (कामकारतः-वर्तते) इच्छा के अनुसार व्यवहार करता है (सः) वह (न-सिद्धिम्-न-सुखम्-न-पराम्-गतिम्) न-सिद्धि-न-सुख 'और' न-परम-गति को (अव्-आप्नोति) प्राप्त करता है ॥२०॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।२१।१६।२४।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः ।

(तस्मात) इसलिये (काय-अकार्य-व्यवस्थितौ) कर्तव्य 'और' अकर्तव्य की-व्यवस्था में (ते-शास्त्रम्-प्रमाणम्) तेरे लिये शास्त्र प्रमाण है (ज्ञात्वा) 'इस बात को' जान कर (इह-शास्त्र-विधान-उक्तम्) यहां पर-शास्त्र की विधि के अनुसार-कहा हुआ, (कर्म-कर्तुम्-अर्हसि) 'तुझे' कर्म करना चाहिये ॥२१॥

श्रीमद्भगवद्गीता का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

सप्तदश अध्याय

गुण निष्ठा

सोलहवें अध्याय में महारजा अर्जुन को सत्व गुण प्रधान दैवी-सम्पत्तिका अधिकारी बतलाते हुए दैवी और-आसुरी सम्पत्ति का वर्णन किया था। यद्यपि अर्जुन क्षत्रिय था, और इस लिये, उसमें रजोगुण प्रधान होना चाहिये या परन्तु महाराज अर्जुनकी अवस्था को जान चुके थे। राजपाट को तृण के समान समझ कर फेंक देने का भाव प्रकट करते ही महाराज अर्जुनके हृदय को ताड़ गये ये। उन्हें उसके अन्दर सत्वगुण की चमकती हुई ज्योति स्पष्ट दीख रही थी। वह यह भली भांति जान चुके थे कि जो राज पदवी को लात मार सकता है उसके लिये कर्मफल का त्याग कोई कठिन बात नहीं और इसीलिये उन्होंने उसे दैवी सम्पत्ति या सत्वनिष्ठा का अधिकारी कहा।

इस अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया कि महाराज जो शास्त्र विधि के बिना ही श्रद्धा से यज्ञ करते हैं उनकी सात्विक रजोगुणी या तमोगुणी कौन सी निष्ठा होती है। अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में महाराज ने सत्वनिष्ठा के सारे ही व्यवहारों का दिग्दर्शन करा दिया है जिससे कि उसे उस मार्ग में चलने के लिये सुभीता हो।

महाराज ने कहा—अर्जुन! श्रद्धा मनुष्य के अन्तःकरण के गुणों पर अवलम्बित है। सात्विक श्रद्धा की पहचान, पूजा, आहार

यज्ञ, तप और दान के आचरण को देख कर सुगमता से हो जाती है।

सात्विक लोग यज्ञ द्वारा देवताओं की, रजोगुणी लोग यक्षों और राक्षसों की, और तमोगुणी लोग भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं। आयु, बल, आरोग्य और सुख को बढ़ाने वाले, रसीले स्निग्ध और हृदय के लिये हितकारक बलिष्ठ भोजन सात्विकलोग के प्यारे होते हैं। चटपटे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तेज, रूखे और दाह पैदा करने वाले दुःख शोक और रोगजनक भोजन रजोगुणी लोगों के प्रिय हैं। और तमोगुणी लोगों को देर के बने हुए, नीरस बासी जूठे और बुद्धि नाशक भोजन प्रिय होते हैं।

फल की कामना को छोड़ कर विधि के अनुसार किया गया, सत्वगुणी, पाखण्ड से, बिना विधि के ही किया गया, रजोगुणी, और विधि, दक्षिणा तथा श्रद्धा के बिना ही किया गया तमोगुणी यज्ञ है।

देवों, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों का सत्कार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। न भड़काने वाले, सत्य प्यारे और हितकारक वचन, और स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप है। मन की प्रसन्नता, शान्ति, कम बोलना, आत्मा का संयम और भाव की शुद्धि मानसिक तप है। ये तीनों ही तप फल की कामना के विना, श्रद्धा से किये गये सात्विक, सत्कार मान और पूजा के लिये, पाखण्ड से किये गये रजोगुणी, और दूसरे को कष्ट देने के लिये, अथवा मूर्खता से अपने आप को ही कष्ट पहुंचाने वाले, विधि के बिना किये गये तप, तमोगुणी कहलाते हैं।

जो दान अपना कोई उपकार न करने वाले को श्रद्धा-भक्ति से अच्छा स्थान अच्छा काल और श्रेष्ठ पात्र देखकर दिया जाता है, वह सात्विक दान है। जो किसी फल की कामना से, अपना

भला करने वाले को दुःख मान कर दिया जाता है वह रजोगुणी दान है। और बुरे स्थान तथा समय में कुपात्र को अपमान करते हुए जो दान दिया जाता है वह तमोगुणी दान है। ओं तत् और सत् ये तीनों ही ब्रह्म के नाम हैं। इस लिये प्रत्येक शुभ कर्म के आरम्भ में ओं का उच्चारण करते हुए, तत्पद् के वाच्यभगवान की निर्दिष्ट विधि के अनुसार, श्रद्धा से फल की कामना को छोड़ कर सद्बुद्धि से यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों को करना चाहिये।

सप्तदश अध्याय

विज्ञान योग

(गुणनिष्ठा)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! (ये-शास्त्र-विधिम्-उत्सृज्य) जो-शान्त्र की-विधि को-छोड़ कर (श्रद्धया-अन्विताः) श्रद्धा से युक्त हुए-हुए (यजन्ते) यज्ञ करते हैं। (तेषाम्) उनकी (सत्वम्-रजः-आहो-तमः) सत्वगुणी-रजोगुणी अथवा तमोगुणी (का-निष्ठा) कौन सी निष्ठा है ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—(देहिनाम्) शरीरधारियों की (सात्विकी-राजसी-च-एव-तामसी) सत्वगुणी-रजोगुणी और -तमोगुणी (त्रिविधा-श्रद्धा-भवति) तीन प्रकार की श्रद्धा होती है (ताम्-शृणु) तू उसे सुन ॥२॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

(भारत) हे भरत सन्तान ! (सर्वस्य-श्रद्धा) सब की-श्रद्धा (सत्व-अनुरूपा) अन्तः-करण की स्थिति के-अनुकूल (भवति) होती है । (अयम्-पुरुषः-श्रद्धामयः) यह-पुरुष-श्रद्धा-का पुतला है । (यः-यत्-श्रद्धः) जिसकी जैसी श्रद्धा होती है (सः-सः-एव वह-वैसी ही निष्ठा वाला है ॥३॥

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

(सात्विकाः-देवान्) सात्विक'लोग' देवताओं की [राजसाः-यक्ष-रक्षांसि) 'और' रजोगुणी 'लोग' यक्षों 'और'राक्षसों की (यजन्ते) पूजा करते हैं । (अन्ये-तामसाः-जनाः) दूसरे तमोगुणी लोग (प्रेतान्'च-भूत-गणान-यजन्ते) प्रेतों और-भूतो के संघ को (यजन्ते) पूजा करते है ॥४॥

विशेष— जिनके अन्तःकरण में सत्वगुण प्रधान होता है वे ज्ञानी होते हैं। इसी लिये वे देवताओ (ज्ञानी अथवा भगवान की दिव्य शक्तियों) की पूजा करते हैं । (सत्कार करते हैं)।

जिन लोगों के अन्तःकरण में रजोगुण प्रधान है, उन का स्वभाव क्रूर होता है । इस लिये वे यक्ष-राक्षसों (क्रूर-स्वभाव-वाले-प्राणियों) की पूजा करते हैं (सत्कार करते हैं)।

जिन लोगों के अन्तःकरण में तमोगुण प्रधान है । वे अज्ञानी होते हैं बहुधा ऐसे लोगों को मृत आत्माओं पर विश्वास होता है। और ये लोग प्रेतों और भूतों पर (जोकि वस्तुतः कोई चीज नहीं) विश्वास रखते हैं। और उन्हीं की पूजा करते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥५।१७।७॥

(च-सर्वस्य) और-सबको (आहारः-यज्ञः-तपः-तथा-दानम्-अपि) भोजन-यज्ञ-तप-तथा-दान भी (त्रिविधः-प्रियः-भवति) तीन प्रकार का-प्रिय होता है । (तेषाम्-इमम्-भेदम्-शृणु) उनके इस भेद को सुन ॥५॥

आयुःसत्वबलारोग्य—
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्विकप्रियाः ॥६।१७।८॥

(आयुः-सत्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः)उमर-सत्व-गुण-बल नीरोगयता-सुख 'और' प्रेम को-बढ़ाने वाले (रस्याः-स्निग्धाः-स्थिराः-हृद्याः आहाराः) रसीले-चिकने-दृढ़ हृदय के लिये हितकारक-भोजन (सात्विक-प्रियाः) सत्वगुणी लोगों के-प्यारे होते हैं ॥ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥७।१७।९॥

(कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः) कड़वे खट्टे-नमकीन-बहुत गरम-तीखे-रूखे जलन पैदा करने वाले(दुःख-शोक-आमय-प्रदाः) दुःख शोक 'और' रोग को-पैदा करने वाले, (आहाराः भोजन (राजसस्य-इष्टाः) रजोगुणी 'लोगों' को-प्रिय हैं ॥७॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥८।१७।१०॥

(यात-यामम्) देर के बने हुए (गत-रसम्) स्वाद से रहित (पूतिपर्युषितम्) दुर्गन्ध वाले वासी (उच्छिष्टम-च-अपिअमे-

ध्यम) जूठे-और-बुद्धि को बिगाड़ने वाले (भोजनम्-तामस-प्रियम्) भोजन-तमोगुणी 'लोगों' के प्यारे हैं ॥८॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥९।१७।११॥

(अफल-आकांक्षिभिः) फल की इच्छा न करने वाले 'पुरुषों' से (यष्टव्यम-एव) यज्ञ ही करना है 'फल की इच्छा नहीं करनी' (इति-मनः-समाधाय) इस प्रकार मन को एकाग्र करके (यः-विधि-दृष्टः यज्ञः-इज्यते) जो विधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है। (सः-सात्विकः) वह सत्वगुणी है ॥९॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१०।१७।१२॥

हे भरत श्रेष्ठ ! (फलम्-तु-अभिसन्धाय) फल को ध्यान में रखकर (च-एव-दम्भ-अर्थम्-अपि) और ढोंग के लिये भी (यत्-इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है । (तत्-यज्ञम्) उस-यज्ञ को (राजसम्-विद्धि) रजोगुणी जान ॥१०॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥११।१७।१३॥

(विधि-हीनम्) विधि से रहित (असृष्ट-अन्नम्) २ अन्न १ दान से रहित (मन्त्र-हीनम्) मन्त्र से रहित (अदक्षिणम्) दक्षिणा से रहित (श्रद्धा विरहितम्) 'और' श्रद्धा से रहित (यज्ञम्-तामसम्-परिचक्षते यज्ञ तमोगुणी कहा जाता है ॥११॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१२।१७।१४॥

(देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्) विद्वान-ब्राह्मण-गुरु 'और' बुद्धिमान् का सत्कार (शौचम्) शुद्धि (आर्जवम्) सरलता (ब्रह्मचर्यम्-च-अहिंसा) ब्रह्मचर्य-और-अहिंसा (शारीरम्-तपः-उच्यते) शारीरिक-तप कहलाता है ॥१२॥

अनुद्वेगकरं वाक्य सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१३।१७।१५॥

(यत्-वाक्यम्-अनुद्वेगकरम्) जो-वचन घबराहट को न पैदा करने वाले, (च-सत्यम्-प्रियम्-हितम्) और-सत्य-प्यारा तथा' हितकारक हो, 'वह' (च-एव-स्वाध्याय-अभ्यसनम्) और स्वाध्याय का अभ्यास (वाक्-मयम्-तपः-उच्यते) वाणी का तप कहलाता है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१४।१७।१६॥

(मनः-प्रसादः) मन की-निर्मलता (सौम्यत्वम्) शान्ति (मौनम्) कम बोलना (आत्म-विनिग्रहः) आत्मा का संयम (भाव संशुद्धिः) विचारों की पवित्रता (इति-एतत्) पूर्व कहा गया-यह (मानसम्-तपः-उच्यते)मानसिक तप कहलाता है ॥१४॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१५।१७।१७॥

(अफल-आकांक्षिभिः) फल की इच्छा न करने वाले (युक्तैः) योग में लगे हुए (नरैः) मनुष्यों से (परया-श्रद्धया-तप्तम्) उत्कृष्ट-श्रद्धा से-तपा गया (तत्-त्रिविधम-तपः) वह तीन प्रकार का तप (सात्विकम्-परिचक्षते) सत्वगुणी कहलाता है ॥१५॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१६।१७।१८॥

(यत्-तपः) जो तप (सत्कार-मान-पूजा-अर्थम्) आदर-बड़ाई-'और' पूजा के लिये (च-एव-दम्भेन-क्रियते) और कपट से किया जाता है। (तत्-इह) यह-वहां पर राजसम्-चलम अध्रुवम्-प्रोक्तम्) रजोगुणी—नाशवान् 'और' स्थिर न रहने वाला-कहा गया है ॥१६॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७।१७।१९॥

(यत्-तपः) जो तप (मूढ-ग्राहेण) मूर्खता के आग्रह से (आत्मनः-पीडया) आत्मा को कष्ट देकर (वा-परस्य-उत्सादनार्थम्) अथवा दूसरे को उखाड़ने के लिये (क्रियते) किया जाता है। (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह-तमोगुणी कहा गया है ॥१७॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥१८।१७।२०॥

(यत्-दानम्) जो-दान (दातव्यम्-इति) देना चाहिये इस बुद्धि से (देशे-काले-च-पात्रे) 'अच्छे' स्थान-समय और पात्र में (अनुपकारिणे) 'अपना' उपकार न करने वाले को (दीयते) दिया जाता है, (तत्-सात्विकम्-उदाहृतम्) वह-सत्वगुणी कहा गया है ॥१८॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥१९।१७।२१॥

(तु-पुनः-यत्) परन्तु-जो (प्रति-उपकार-अर्थम्) बदला

उतारने के लिये (वा-फलम्-उद्दिश्य) जो-फल को-निमित्त बना कर (च-परिक्लिष्टम्-दीयते) और:दुःखी होकर दिया जाता है। (तत्-दानम्-राजसम्-स्मृतम्) वह दान रजोगुणी-कहा गया है ॥१९॥

अदेशकाले यद्दानं, अपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२०।१७।२२॥

(यत्-दानम्) जो-दान (अदेश-काले) निषिद्ध स्थान 'और' काल में (च-अपात्रेभ्यः) और कुपात्रों को (असंत्कृतम्-अवज्ञातम् बिना सत्कार के-तिरस्कार के साथ (दीयते) दिया जाता है। (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह तमोगुणी कहा है ॥२०॥

ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२१।१७।२३॥

(ओं-तत्-सत्-इति) ओं-तत् 'और' सत्-यह (त्रिविधः) तीन प्रकार का (ब्रह्मणः-निर्देशः-स्मृतः) ब्रह्म के लिये-शब्द-व्यवहार कहा गया है। (तेन) उस 'ब्रह्म' ने (पुरा) पहिले सृष्टि के आरम्भ में' (ब्राह्मणाः-वेदाः-च-यज्ञाः-विहिताः) ब्रह्मज्ञानी 'ऋषि' वेद और यज्ञ-उत्पन्न किये ॥२१॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२२।१७।२४॥

(तस्मात्) इसलिये (ब्रह्म-वादिनाम्) ब्रह्म वादियों के (विधान-उक्ताः) विधि शास्त्र में कहे गये (यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः) यज्ञ-दान 'और' तप-कर्म (ओ३म-इति-उदाहृत्य) ओ३म् इस-शब्द का उच्चारण करके (सततम्-प्रवर्तन्ते) निरन्तर-चलते हैं ॥२२॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२३।१७।२५।।

(मोक्ष-कांङ्क्षिभिः (मोक्ष की इच्छा वालों से (तत्-इति) वह 'कर्तव्य है' इस भावना से (फलम् अनभि-सन्धाय) फल को-ध्यान में न रखकर (यज्ञः-तपः-क्रियाः) यज्ञ'और' तप-कर्म (च-विविधाः-दान-क्रियाः) और अनेक प्रकार के दान-कर्म (क्रियन्ते) किये जाते हैं ।।२३।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२४ ७।२६।।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (सत्-भावे) सचाई में (च-साधु-भावे) और भलाई में (सत्-शब्दः-प्रयुज्यते) सत् शब्द का प्रयोग होता है (तथा) 'और' उसी तरह (प्रशस्ते-कर्मणि) प्रशंसा के योग्य-कर्म में (सत्-शब्दः-युज्यते) सत्-शब्द का व्यवहार' युक्त है ।।२४।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२५।१७।२७।।

(यज्ञे-तपसि-च दाने-स्थितिः) यज्ञ-तप-और दान में स्थिति (सत्-इति-उच्यते) सत्-इस नाम से कही जाती है (तत्-अर्थीयम्) उन 'यज्ञ आदि के' निमित्त (कर्म-च-एव) कर्म भी (सत्-इति-एव) सत् इस नाम से ही (अभिधीयते) कहा जाता ।।है२५।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२६।१७।२८।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (अश्रद्धया) अश्रद्धा से (हुतम्-दत्तम्-तप्तम्-तपः-च-यत्-कृतम्) यज्ञ किया हुआ-दिया हुआ-तपा हुआ-तप-और किया हुआ जो 'कर्म' है (असत्-इति-उच्यते) वह असत् इस नाम से कहा जाता है (तत्-न-प्रेत्य-च-नो-इह) वह न मरने के बाद-और न यहां किसी काम का है' ।।२६।।

श्रीमद्भगवद्गीता का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति

अष्टादश अध्याय

(गुणनिष्ठा)

संन्यास और त्याग (कर्मयोग) का वर्णन यद्यपि पहिले आ चुका है। यह बात अर्जुन को भली भांति समझाई जा चुकी है कि कर्म के त्याग का नाम संन्यास, और कर्मफल के त्याग का नाम त्याग (कर्मयोग) है। परन्तु यह सब जानते हुए भी यहां अर्जुन ने उसी विषय को फिर छेड़ दिया है। यद्यपि यह पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु ऐसा है नहीं। अर्जुन के इस प्रश्न का भाव और है। उसका यह भाव उसके 'तत्वमिच्छामि वेदितुम्' (तत्व जानना चाहता हूं) इस वाक्य से स्पष्ट झलक रहा है। यह गुण-निष्ठा का प्रकरण है। इस लिये अर्जुन गुणों की दृष्टि से भी इन दोनों वस्तुओं का स्वरूप जानना चाहता था। और यह भी इस बात को जानने के लिये कि मैं कर्मयोग के किस अंश का अधिकारी हूं। महाराज भी उस के भाव को समझ गये, और उन्होंने इसी दृष्टि से उसके इस प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में आगे चल कर दिया है। संन्यास और त्याग का लक्षण करने के बाद उन्होंने यज्ञ, दान और तप के बारे में दूसरे महात्माओं का मत दिखलाते हुए अपना मत प्रकट किया है। इस विषय को उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया है कि यज्ञ, दान और तप आत्मा को पवित्र करने वाले कर्म हैं; इन्हें कभी न छोड़ना हां! इन्हें भी आसक्ति और फल की कामना को छोड़ कर ही करना चाहिये।

नियत कर्मों के त्याग का भी उन्होंने सर्वथा निषेध किया है वर्ण और आश्रम के धर्म नियत हैं। इस के बाद महाराजने गुण की दृष्टि से तीन भाग कर अर्जुन को त्याग का रहस्य समझाया है। उन्होंने कहा अर्जुन! जो मनुष्य भ्रान्ति से नियत कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग तमोगुणी त्याग है। जो दुःख समझ कर शरीर के क्लेश के भय से कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग रजोगुणी है और जो कर्तव्य समझ कर नियत कर्म को तो करता चला जाता है परन्तु आसक्ति और उसके फल की कामना का त्याग कर देता है। उसका त्याग सत्वगुणी त्याग है। सारे कर्मों को देहधारी छोड़ भी कैसे सकता है, इस लिये यह तीसरा त्याग ही सच्चा त्याग है। इसलिए भी मनुष्य कर्मों को नहीं छोड़ सकता कि वह अकेला उनका कारण नहीं है। प्रत्येक कर्म के पांच कारण तो अवश्य होते हैं। जैसे कि रण में कोई वीर किसी की छाती में शस्त्र का प्रहार करता है। उसके इस कर्म का एक कारण वह मनुष्य है जिस के ऊपर उस ने प्रहार किया है। यदि इस मनुष्य के, उस वीर के हृदय को क्षुब्ध करने वाले व्यवहार न होते तो उससे यह कर्म कभी हो ही नहीं सकता था। इसी कारण का नाम अधिष्ठान है। दूसरा कारण प्रहार करने वाला वीर है, उसे कर्त्ता कहते हैं। तीसरा कारण मारने वाले वीर की अनेक प्रकार की चेष्टाएं हैं इन सब की उत्पत्ति संस्कारों से होती है और जब तक संस्कार हैं इन्हें दूर नहीं किया जा सकता। धनुष बाण आदि मारने के साधन चौथा कारण है, इसे करण कहते हैं और पांचवां कारण भाग्य है। इसी का नाम दैव है। इन सब कारणों के होते हुए अकेले कर्त्ता की भला क्या शक्ति है, कि वह कर्म को छोड़ दे।

अपने इस वक्तव्य से महाराज अर्जुन को यह समझाना

चाहते थे कि तुम्हारे इस संग्राम में अधिष्ठान कारण दुर्योधन है और वह भी अधिष्ठान बना है तुम्हारे ऊपर किये गये अपने अत्याचारों से। इसलिये उन अत्याचारों का चित्र सामने आते ही तुम संग्राम में विवश कूद पड़ोगे। इसे छोड़ न सकोगे।

आगे चलकर महाराज ने अर्जुन को उसकी योग्यता, अधिकार और लक्ष्य समझाने के लिये, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, कर्म, करण कर्ता, बुद्धि और सुख का गुणों की दृष्टि से विवेचन किया है।

इस सारे विवेचन से यह भी प्रकट किया गया है कि संसार का कोई भी पदार्थ इन तीन गुणों के पंजे से छूट नहीं सकता, इसलिये संसार के किसी भी कार्य को मनुष्य अपने अन्तःकरण में विद्यमान प्रधान गुण की सहायता से ही कर सकता है। इसलिये किसी भी कार्य को आरम्भ करते समय उसे अपने अन्तःकरण के प्रधान गुण अथवा स्वभाव को अवश्य देख लेना चाहिये। यदि अपने स्वभाव के विपरीत कर्म आरम्भ कर देगा तो कदापि सफल न हो सकेगा।

इसी विषय को और भी स्पष्ट करने के लिये आगे चल कर महाराज ने वर्ण व्यवस्था का दिग्दर्शन कराया है। चारों वर्णों और उन के कर्मों की व्यवस्था उन्होंने स्वभाव के आधार पर मानी है। यह गुणनिष्ठा का प्रकरण है, इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्म, स्वभाव के गुणों से विभक्त किये गये हैं ।।१८।४१।।

मनुष्य अपने परिश्रम से इन तीनों गुणों में से किसी को भी प्रबल बना सकता है, इसलिये इसी जन्म में उसका स्वभाव बदल सकता है, और स्वभाव के बदल जाने से सुतरां वर्ण भी, बदल सकता है। इस प्रकरण से अर्जुन को महाराज ने भली भांति समझा दिया है कि मनुष्य नियत कर्मों को कभी छोड़ ही नहीं सकता, क्योंकि उनकी व्यवस्था स्वभाव के आधार पर की गई है और जब तक स्वभाव उस प्रकार का विद्यमान है तब तक उन कर्मों को कैसे छोड़ सकेगा।

मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति रूप सिद्धि है और वह मिलती है भगवान की उपासना से। परन्तु उसकी उपासना का भी, स्वभाव के अनुकूल कर्मों का अनुष्ठान एक उत्तम उपाय है। अर्जुन तेरा क्षत्रिय वर्ण के अनुकूल स्वभाव है। इस समय मोह का आवरण तुझसे न लड़ने का पाठ करा रहा है। इसके हटते ही विवश तुझे अपने स्वभाव के अनुसार लड़ना ही पड़ेगा। अन्त में फिर मैं तुम्हारा ध्यान जीवन के उसी महान् उद्देश्य की ओर आकर्षित करता हूँ। सारे संसार चक्र को चलाते हुए भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय मन्दिर में विद्यमान हैं। अपने स्वभावानुकूल कर्म करते हुए पूर्ण रूप से उन्हीं की शरण में जाओ। उन्हीं की शरण में जाओ। उन्हीं की कृपा से उत्तम शान्ति और ऊंचे पद को प्राप्त करोगे।

यह मैंने गूढ़ से गूढ़ ज्ञान (विज्ञान) तुझे सुनाया है। इसे विचार कर जैसा समझ में आवे करो। मैं पूछना चाहता हूँ कि अर्जुन क्या तुमने एकाग्र चित्त से मेरा कथन सुना है? और क्या तेरा भ्रम दूर हो गया?

अर्जुन ने कहा, महाराज आप की कृपा से मेरा मोह दूर हो गया। अपने क्षात्रधर्म की याद आ गई। अब कोई संशय शेष नहीं है। आज्ञा का पालन करूँगा।

अष्टादश अध्याय

विज्ञान योग

(गुणनिष्ठा)

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिपूदन ॥१॥

अर्जुन ने कहा—(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (केशि-निपूदन) केशी के मारने वाले 'कृष्ण' ! (संन्यासस्य-च-त्यागस्य) कर्म के त्याग-और-कर्मफल के त्याग का (पृथक्) अलग २ (तत्वम्) 'गुणों की दृष्टि से' सार (वेदितुम्-इच्छामि) जानना चाहता हूं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—(विचक्षणाः-कवयः) बुद्धिमान्-विद्वान 'लोग' (काम्यानां-कर्मणां-न्यासं) संकाम-कर्मों के त्याग को (संन्यासं-विदुः) 'कर्म का' संन्यास समझते हैं। 'और'(सर्व-कर्म-फल-त्यागम्) सब कर्मो के-फल के-त्याग को (त्यागम्-प्राहुः) त्याग-कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

(दोषवत्-कर्म-त्याज्यम्) दोषयुक्त =कामना से युक्त-कर्म को छोड़ देना चाहिये (इति-एके-मनीषिणः-आहुः) ऐसा-कोई विद्वान् कहते हैं। (च-यज्ञ-दान-तपः-कर्म) और यज्ञ दान 'और' तप-कर्म (न-त्याज्यम्) नहीं छोड़ने चाहियें (इति-अपरे) यह-दूसरे विद्वान् कहते हैं ॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

(भरतसत्तम) हे भरत श्रेष्ठ ! (तत्र-त्यागे) उस-त्याग के विषय में (मे-निश्चयम्-शृणु) मेरा-निश्चय-सुनो। (पुरुष-व्याघ्र) हे पुरुषसिंह ! (हि-त्यागः-त्रिविधः-सम्प्रकीर्तितः) निश्चय ही-त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

(यज्ञ-दान-तपः-कर्म) यज्ञ दान 'और' तप 'ये' कर्म (न-त्याज्यम्) नहीं-छोड़ने-चाहियें। (तत्-कार्यम्-एव) वे करने ही चाहियें। (यज्ञो-दानम्-च-एव-तपः) यज्ञ-दान-और-तप (मनी-षिणाम्-पावमानि) बुद्धिमानों को-पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

(पार्थ !) पृथापुत्र ! (एतानि-कर्माणि-अपि-च) इन कर्मों को भी (सङ्गम-च-फलानि-त्यक्त्वा) आसक्ति और फलों को छोड़

कर (कर्तव्यानि) करना चाहिए, (इति-मे-निश्चितम्-उत्तमम्-मतम्) यह मेरा निश्चित श्रेष्ठ मत है ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

(नियतस्य कर्मणः) 'वर्ण तथा आश्रम के अनुसार' नियत कर्म का त्यागः-तु-उपपद्यते-न) त्याग-युक्त नहीं है। (तस्य-मोहात्-परित्यागः) उसका भ्रान्ति से त्याग (तामसः-परिकीर्तितः) तमोगुणी-कहा गया है ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

(दुःख-इति-एव) कठिन है-यह जान कर-ही (काय-क्लेश-भयात) शरीर के क्लेश के भय से (यत्-कर्म) जो-कर्म (त्यजेत) (छोड़ देगा (स-राजसम्-त्यागम्-कृत्वा) वह रजोगुणी-त्याग-करके त्याग-फलम) त्याग के फल को (न-एव-लभेत) नहीं ही प्राप्त करेगा ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन ! (संगम्-च-फलम्-त्यक्त्वा-एव (आसक्ति और फल को छोड़ कर ही (यत्-नियतम्-कर्म) जो नियत-कर्म (कार्यम्-इति-एव-क्रियते) कर्तव्य है-यह समझ कर ही किया जाता है। (सः-सात्विकः-त्यागः-मतः) वह सत्व गुणी त्याग माना गया है ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

(सत्व-समाविष्टः) सत्व गुण से पूर्ण (छिन्न-संशयः) संशय-रहित (मेधावी-त्यागी) बुद्धिमान-त्यागी (अकुशलम्-कर्म) दुःखदायक कर्म के साथ (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता। (कुशले-अनुषज्जते-न) सुखदायक 'कर्म' में आसक्त नहीं होता ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म फलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

(देह-भृता) देहधारी से (अशेषतः-कर्माणि) सारे कर्म (त्यक्तुम्-नहि शक्यम) छोड़े-नहीं जा सकते (तु-यः कर्मफल-त्यागी) हां-जो-कर्मफलों का त्याग करने वाला है, (स-त्यागी-इति अभिधीयते) वह त्यागी-इस-नाम से-कहा जाता है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

(कर्मणः) कर्म का अनिष्टम्-इष्टम-च मिश्रम्) बुरा भला-और-मिला हुआ=मध्यम अवस्था का (त्रिविधम्-फलम्) तीन प्रकार का-फल 'होता है' (प्रेत्य अत्यागिनाम् भवति) वह मृत्यु के बाद 'कर्मफल का त्याग न करने वालों को 'प्राप्त' होता है (संन्यासिनाम्-क्वचित् न) 'कर्मफल का' त्याग करने वालों को कहीं-नहीं 'मिलता' ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व कर्मणाम् ॥१३॥

(महाबाहो !) हे महाभुज ! 'अर्जुन' (सर्व-कर्मणाम्-सिद्धये) सब कर्मों की-सिद्धि के लिये (सांख्ये-कृतान्ते प्रोक्तानि) सांख्य सिद्धान्तों में-कहे हुए (एतानि-पञ्चकारणानि) इन पांच कारणों को (मे-निबोध) मुझ से जान ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

(अधिष्ठानम्) स्थान (तथा-कर्ता) ऐसे ही कर्म करने वाला-(पृथक-विधम्-करणम्) भिन्न प्रकार के साधन (च विविधा-पृथक्-चेष्टाः) और-अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ. (च-अत्र-पञ्चमम्-दैवम्) और-इसी विषय में पांचवां भाग्य ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

[शरीर-वाक्मनोभिः] शरीर वाणी 'और' मन से [नरः] मनुष्य [यत्-न्याय्यम्-वा-विपरीतम्] जो न्याय के अनुसार-या-विपरीत [कर्म-आरभते] कर्म आरम्भ करता है। [एते-पञ्च-तस्य-हेतवः] ये पांच उस के कारण हैं ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारं आत्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

[तु-तत्र-एवम्-सति] तो इस विषय में ऐसा होते हुए [यः] जो [अकृत-बुद्धित्वात्] मन्द बुद्धि होने के कारण [केवलम्-आत्मानम्-कर्तारम्-पश्यति] केवल अपने-आप को कर्ता समझता है। [स-दुर्मतिः] वह कुबुद्धि [न पश्यति] 'कुछ' नहीं—जानता ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

(यस्य-अहंकृत-भावः-न) जिसमें अहंकार की भावना नहीं (यस्य-बुद्धिः-लिप्यते-न) 'और' जिसकी बुद्धि 'फल की कामना से' लिप्त नहीं है। स-इमान्-लोकान्-हत्वा-अपि) वह इन लोकों को मार कर-भी (निबध्यते-न) बन्धन में नहीं आता ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः ॥१८॥

(ज्ञानम्-ज्ञेयम्-परिज्ञाता) ज्ञान, जानने की वस्तु, 'और' जानने वाला, (त्रिविधा-कर्म-चोदना) ये-तीन-कर्म के प्रवर्तक हैं। (करणम्-कर्म कर्ताःइति) साधन-कर्म 'और' कर्ता (त्रिविधः-कर्म संग्रहः) 'वे' तीन कर्म का अनुष्ठान करने वाले हैं ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

(ज्ञानम्-कर्म-च-कर्ता) ज्ञान-कर्म-और-कर्ता (गुण-भेदतः) गुणों के-भेद से (गुण-संख्याने) गुणों का विवेचन करने वाले 'शास्त्र' में (त्रिधा-एव) तीन प्रकार के ही (प्रोच्यते) कहे जाते हैं। (तानि-अपि) उनको भी (यथावत्-शृणु) ठीक-ठीक सुनो।

सर्व भूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

(येन) जिसके द्वारा (विभक्तेषु) अलग्-अलग् (सर्व-भूतेषु) सब भूतों में (एकम्-अव्ययम्-भावम्) एक-अविकारी

तत्त्व 'भगवान' को (ईक्षते) देखता है (तत्-ज्ञानम्) उस ज्ञान को (सात्त्विकम्-विद्धि) सत्वगुणी जानो ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

(यत्-ज्ञानम) जो ज्ञान (नाना-पृथक्-विधान) अनेक-भिन्न प्रकार के (भावान्) पदार्थों के धर्मों को (सर्व-भूतेषु) सब भूतों में (पृथक्त्वेन वेत्ति) पृथक् रूप से जानता है। (तत्-ज्ञानम) उस ज्ञान को (राजसम्)। रजोगुणी (विद्धि) जानो ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामससमुदाहृतम् ॥२२॥

(तु-यत्) परन्तु-जो 'ज्ञान' (अहैतुकम्) युक्ति से रहित (एकस्मिन्-कार्ये) एक कार्य में (कृत्स्नवत्) समग्र 'कार्यों के झुण्ड' की तरह (सक्तम्) सम्बद्ध है=थोड़े को बहुत और एक को अनेक जनाता है। अतत्त्व-अर्थवत्) मिथ्या विषय वाला (च-अल्पम) और थोड़ा है (तत्-तामसम्-उदाहृतन्) उसे तमोगुणी-कहा गया है ॥२२॥

नियतं सङ्गहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म, यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

(नियतम्) 'अपने वर्ण तथा आश्रम के लिये निश्चित (संग-रहितम्) आसक्ति से रहित (यत्-कर्म) जो-कर्म (अ-रागं-द्वेषतः) २ राग 'और' ३ द्वेष के १ बिना (अफल-प्रेप्सुना) फल की इच्छा न करने वाले से (कृतम्) किया गया है (तत्-सात्त्विकम्-उच्यते) वह सत्वगुणी-कहा जाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म, साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं, तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

(तु-यत कर्म) किन्तु जो-कर्म (स-अहंकारेण) अहंकारी (वा पुनः) अथवा (काम-ईप्सुना) 'फल की' कामना के-अभिलाषी से (बहुल-आयासम) बड़े परिश्रम से (क्रियते) किया जाता है। (तत्=राजसम् उदाहृतम्) वह रजोगुणी-कहा गया है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म, यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

(अनुबन्धम्-क्षयम्-हिंसाम-पौरुषम्-च अनपेक्ष्य) परिणाम 'धन और बल का व्यर्थ' नाश-दूसरे की पीड़ा-'और' कार्य करने की शक्ति को (अनपेक्ष्य) परवाह न कर (मोहात्) मोह से (कर्म आरभ्यते) 'जो' कर्म-आरम्भ किया जाता है। (तत्-तामसम उदाहृतम्) वह-तमोगुणी-कहा गया है। ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

(मुक्त-सङ्गः) २ आसक्ति से-१ छूटा हुआ (अनहंवादी) अहङ्कार की बात न करने वाला (धृति- उत्साह-समन्वितः) धैर्य और उत्साह- से-युक्त (सिद्धि-असिद्ध्योः) 'फल की' सिद्धि वा असिद्धि होने पर (निर्विकारः) विकार से रहित (कर्ता-सात्त्विकः-उच्यते) कर्ता सत्वगुणी कहलाता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

(रागी) आसक्ति से युक्त (कर्म-फल-प्रेप्सु) कर्मों के-फल

की-इच्छा करने वाला (लुब्धः) लोभी (हिंसात्मकः) हिंसा की भावना वाला (अशुचिः) अपवित्र (हर्ष-शोक-अन्वितः) आनन्द 'और' शोक से-युक्त (कर्ता-राजसः-परिकीर्तितः) कर्ता-रजोगुणी कहा गया है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

(अयुक्तः) 'तत्पर होकर' न लगने वाला, (प्राकृतः) अज्ञानी (स्तब्धः) अकड़ा हुआ (शठः) धूर्त (नैष्कृतिकः) बदला लेने का अभ्यासी (अलसः) आलसी (विषादी) शोक करने वाला (च-दीर्घसूत्री) और-देर से काम करने वाला (कर्ता-तामसः-उच्यते) कर्ता-तमोगुणी-कहलाता है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

(धनञ्जय) हे धन को जीतने वाले ! 'अर्जुन' (बुद्धेः-च एव धृतेः) बुद्धि-और-धृति के (गुणतः) गुणों के आधार पर (अशेषेण-प्रोच्यमानम्) पूर्ण रूप से कहे जाते हुए (पृथक्त्वेन-त्रिविधम्-भेदम्) अलग २ तीन प्रकार के भेद (शृणु) सुनो ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

(पार्थ !) पृथापुत्र ! (या) जो 'बुद्धि' (प्रवृत्तिम्-च-निवृत्तिम्) 'कार्य के' आरम्भ 'और' त्याग, (कार्य-अकार्ये) कर्तव्य 'और' अकर्तव्य (भय-अभये) डर-'और' निर्भयता (च-बन्धम्-मोक्षम्) और बन्धन 'तथा' मुक्ति को (वेत्ति) जानती है (सा-सात्त्विकी बुद्धिः) वह सत्वगुणी बुद्धि है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (यया) जिस 'बुद्धि से' (धर्मम्-च-अधर्मम्) धर्म-और-अधर्म को (कार्यम्-च-एव-अकार्यम्) कर्तव्य और अकर्तव्य को (अयथावत्) उलटा (विजानाति) जानता है। (सा-राजसी-बुद्धिः) वह रजोगुणी बुद्धि है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

(पार्थ) हे पृथा पुत्र ! (तमसा आवृता) 'जो' तमोगुण से ढकी हुई (अधर्मम्-धर्मम्-इति-या) अधर्म को-धर्म इस नाम से (च-सर्व अर्थान्-विपरीतान्) और सब विषयों को-उलटे 'ही' (मन्यते) जानती हैं (सा-तामसी-बुद्धिः) वह तमोगुणी बुद्धि है ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

(पार्थ) हे पृथा पुत्र ! (यया-अव्यभिचारिण्या-धृत्या) जिस-न बदलने वाली-धारणा से (योगेन) ध्यान योग से (मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः) मन-प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को (धारयते) रोकता है। (सा-सात्त्विकी-धृतिः) वह सत्वगुणी-धृति है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

(पार्थ-अर्जुन) हे पृथापुत्र-अर्जुन ! (यया-धृत्या) जिस-धृति से (प्रसंगेन-फल-आकांक्षी) प्रसंग से-फल की इच्छा करने

वाला (धर्म-काम अर्थान्) धर्म-काम 'और' अर्थ को (धारयते) धारण करता है (सा-धृतिः-राजसी) वह धृति-रजोगुणी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (दुर्मेधाः) कुबुद्धि 'पुरुष' (यथा) जिस 'धृति' से स्वप्नम्-भयम्-शोकम विषादम्-मदम् । नींद-डर शोक-कुढ़ने के स्वभाव-और-अभिमान को (न-विमुञ्चति) नहीं छोड़ता (सा-तामसी-धृतिः) वह तमोगुणी है ॥३॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

(भरत-ऋषभ) हे भरत श्रेष्ठ ! (इदानीम्-मे-त्रिविधम्-सुखम शृणु) अब मुझसे तीन प्रकार का सुख-सुनो । यत्र-अभ्यासात रमते) जिसमें 'मनुष्य' अभ्यास से-रम जाता है । (च-दुःख-अन्तम्-निगच्छति) और दुःख के नाश का अनुभव करता है॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

(यत्-तत्) जो-वह 'सुख' (अग्रे) आरम्भ में 'साधन कठिन होने के कारण' (विषम् इव) विष की तरह और (परिणामे) अन्त में (अमृत-उपमम्) अमृत के तुल्य है' (तत-आत्म-बुद्धि-प्रसादजम-सुखम) वह आत्मा और बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होने वाला-सुख (सात्विकम्-प्रोक्तम्) सत्वगुणी कहा है ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रे ऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

(यत् तत्) जो-सुख (विषय-इन्द्रिय-संयोगात्) विषय और' इन्द्रियों के-संयोग से 'उत्पन्न होने वाला' (अग्रे-अमृत-उप

मम्) आरम्भ में-अमृत के समान 'और' (परिणामे) अन्त में (विषम-इव) विष के-समान है । (तत्-सुखम्) वह-सुख (राजसम-स्मृतम्) (रजोगुणी-माना गया है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

(यत्-सुखम्) जो-सुख (अग्रे-च-अनुबन्धे-च) आरम्भ में और-परिणाम-में भी (आत्मनः-मोहनम्) आत्मा को-मोह में फंसाने वाला है, 'और' निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम्) नींद-आलस्य 'और' कर्तव्य की-भूल से उत्पन्न-होने वाला है। (तत तामसम-उदाहृतम्) वह तमोगुणी कहा गया है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

(तत्-सत्वम) वह-वस्तु (पृथिव्याम्) पृथिवी पर दिवि) वा-पुनः-देवेषु) द्यु लोक में-या देवताओं में (न-अस्ति) नहीं है । (यत् एभिः-गुणैः) जो-इन तीन-गुणों से (मुक्तं-स्यात्) बचा हुआ हो ॥४०॥

तात्पर्य—इन तीनों गुणों के बढ़ने और घटने से ही मनुष्यों के स्वभाव समय समय पर बदलते रहते हैं। और उन स्वभावों के आधार पर ही वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था होती है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

(परं-तप) हे शत्रु को तपाने वाले 'अर्जुन !' (ब्राह्मण-क्षत्रिय विशाम् च शूद्राणाम्) ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्यों और शूद्रों के (कर्माणि) कर्म (स्वभाव-प्रभवैः-गुणैः) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले- गुणों से (प्रविभक्तानि) बाटे गये हैं ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

(शमः) शान्ति (दमः) इन्द्रियों का निरोध (तपः) सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहने की शक्ति (शौचम) शुद्धि (क्षान्तिः) क्षमा (आर्जवम्) सरलता (ज्ञानम्) यम और नियम का पालन (विज्ञानम्) सत्व आदि गुणों का विवेक कर सात्विक भावों का धारण,(स-एव-अस्तिकयम्) और ईश्वर की सत्ता में श्रद्धा, ये (स्वभावजम्) स्वभाव के अनुसार (ब्रह्म-कर्म) ब्राह्मण के कर्म हैं ।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।४३।।

(शौर्यम्-तेजः-धृतिः-दाक्ष्यम्) वीरता-प्रताप-धैर्य 'और' चतुरता (च अपि-युद्धे-अपलायनम्) और-युद्ध में-न भागना (दानम् च-ईश्वर भावः) दान 'और' प्रभुता (स्वभावजम क्षात्र कर्म) स्वभाव के अनुसार क्षत्रिय के-कर्म हैं !।४३।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।४४।।

(कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यम्) खेती-गोपालन 'और' व्यापार स्वभावजम्-वैश्य-कर्म) स्वभाव के अनुसार-वैश्य के-कर्म हैं। (शूद्रस्य-अपि) शूद्र का भी (स्वभावजम्-परिचर्या-आत्मकम्-कर्म स्वभाव के अनुसार-सेवा भाव का कर्म है ।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

(नरः) मनुष्य (स्वे-स्वे-कर्मणि-अभिरतः) अपने-अपने-कर्म में लगा हुआ, (संसिद्धिम-लभते) सिद्धि को प्राप्त करता है ।

(स्वः-कर्म-निरतः) जैसे सिद्धि को-प्राप्त करता है (तत्-शृणु) सो सुनो ।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

(यतः-भूतानाम्-प्रवृत्तिः(जिससे 'पृथिवी प्रवृत्ति है । (येन-इदम्-सर्वम्-ततम्) जिसने यह सब फैलाया है= रचा है (तम्-स्व-कर्मणा-अभि-अर्च्य) उसे अपने-कर्म (मानवः सिद्धिम्-विन्दति) मनुष्य-सिद्धि को प्राप्तकरता है ।।४६।।

* श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठिता ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।१८।।४७

(सु-अनुष्ठितात्) भलीप्रकार अनुष्ठान किये गये (परधर्मात्) अन्य के धर्म से (विगुणः-स्वधर्मः) पूरा अनुष्ठित न हुआ भी अपना धर्म (श्रेयान्) श्रेष्ठ है । (स्वभाव नियतम्) स्वभाव के अनुसार निश्चित किये हुये (कर्म-कुर्वन्) कर्म को करता हुआ किल्विषम्-न-आप्नोति) पाप का भागी नहीं बनता । १८।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।१८।।४८।।

(कौन्तेय) हे कुन्तिपुत्र ! (सदोषम्-अपि) विघ्नों वाले भी (सहजं-कर्म) स्वभाव से नियत कर्म को (न त्यजेत्) न छोड़े । (धूमेन-अग्निः-इव) धूम से अग्नि की तरह (सर्व-आरम्भाः) सारे कर्म (दोषेण-आवृताः) विघ्न से घिरे हुए हैं ।।१८।।४८।।

*टि—श्लोक सं० ४७, ४८, ४९ गुरुकुल पोठोहार और राजपाल एण्ड संज द्वारा छापे गये वैदिक गीता के संस्करणों में नहीं छपे थे ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८॥४९ ॥

(असक्त-बुद्धिः) जिसकी बुद्धि फल में आसक्त नहीं है, (विगत-स्पृहः) जिसकी इच्छा फल की ओर नहीं झुकती, वह (सन्यासेन) कर्मफल के त्याग से, (परमाम) उत्कृष्ट (नैष्कर्म्य-सिद्धिम्) कर्मत्याग की सिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है ॥१८॥४९॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५० ॥१८॥५९

(यत्-अहंकारम-आश्रित्य) जो अहंकार का आश्रय लेकर (न-योत्स्ये-इति मन्यसे) नहीं लड़ूंगा-यह समझता है। ते-व्यव-साय:-मिथ्या-एव) 'यह' तेरा व्यापार झूठा ही है। (त्वाम्-प्रकृतिः-नियोक्ष्यति) तुझे-स्वभाव 'युद्ध' में लगावेगा ॥५०॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥५१॥१८।६०

(कौन्तेय) हे कुन्ति पुत्र ! (यत्-मोहात्-कर्तुम्-न-इच्छसि) (जो-मोह से 'तमोगुण से अपने स्वभाव को भूल कर' (कर्तुम-न इच्छसि) करना नहीं चाहता। (तत्-अवशः-अपि-करिष्यसि) उसे-विवश होकर भी करेगा ॥५१॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥५२॥१८।६१॥

हे अर्जुन ! (यन्त्र-आरूढ़ानि) 'नियम की' कला पर-चढ़े हुए (सर्व भूतानि) सब-तत्वों को (मायया) अपनी शक्ति से (भ्रामयन्) घुमाता हुआ (ईश्वरः) भगवान् (सर्वभूतानाम) सब प्राणियों के (हृत्-देशे) हृदय-स्थान में (तिष्ठति) रहता है ॥५२॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥५३॥१८।६२

(भारत) हे भरत सन्तान ! (सर्व-भावेन) सब भावनाओं से (तम-एव शरणम-गच्छ) उसकी-ही-शरण जाओ। (तत्-प्रसादात) उसकी कृपा से (पराम्-शान्तिम) उत्कृष्ट शान्ति 'रूप' (शाश्वतम् स्थानम्) नित्य (परान्त काल तक स्थायी) स्थान को (प्राप्स्यसि) प्राप्त करेगा ॥५३॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥५४॥१८।६३॥

(मया-ते) मैंने-तुझे (इति-गुह्यात गुह्यम) यह-गूढ़-से-गूढ़ (ज्ञानम) ज्ञान=विज्ञान (आख्यातम्) बतलाया (एतत्-अशेषेण-विमृश्य) इसे पूर्ण रूप से-विचार कर (यथा-इच्छसि-तथा-कुरु) जैसा-चाहता है-वैसा कर ॥५४॥

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥५५॥१८।७२

(पार्थ !) हे पृथापुत्र ! (कच्चित-त्वया-एतत) क्या तुमने यह (एकाग्रेण चेतसा-श्रुतम्) (एकाग्र-चित्त-से सुना, (धनञ्जय) हे धन के विजेता ! (कच्चित-ते-अज्ञान-सम्मोहः-प्रनष्टः) क्या तेरी-अज्ञान से हुई-भ्रान्ति-नष्ट हुई ॥५५॥

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥५६॥१८।७३

अर्जुन ने कहा – (अच्युत) हे पतन से रहित 'कृष्ण ! (त्वत्-प्रसादात्) तुम्हारी-कृपा से (मोहः-नष्टः भ्रान्ति-दूर हुई (स्मृतिः लब्धा) 'अपने धर्म की' याद आ गई। (गत-सन्देहः-स्थितः-

अस्मि) संशय को १ दूर किये ३ खड़ा हूँ। तव-वचनम्-करिष्ये) तेरा-आज्ञा का 'पालन' करूँगा ॥५६॥

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥५७।१८।७४॥

सञ्जय ने कहा—(इति अहम) इस प्रकार मैंने (महात्मनः-वासुदेवस्य च-पार्थस्य) महात्मा-वासुदेव के-और अर्जुन के (अद्भुतम्) आश्चर्य से भरे (रोम-हर्षणम्) रोमांच को खड़ा करने वाले (इमम्-संवादम्) इस-संवाद को (अश्रौषम्) सुना ॥५७॥

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ।५८।१८।७५

(अहम्-एतत परम् गुह्यम्-योगम्) मैंने-इस-अत्यन्त-गूढ़-योग को (व्यास-प्रसादात्) व्यास जी की कृपा से (साक्षात्-कथयतः-योगेश्वरात् कृष्णात्) साक्षात् कहते हुए योगेश्वर कृष्ण से (स्वयम्-श्रुतवान) अपने आप सुना है ॥५८॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥५९॥१८।७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टादशोऽध्यायः।
समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

(यत्र-योगेश्वरः-कृष्णः) जहां योगेश्वर कृष्ण हैं। (यत्र-धनुर्धरः-पार्थः) 'और जहां-धनुष-धारी अर्जुन है (तत्र श्रीः-विजय-भूतिः) वहां 'ही' लक्ष्मी-विजय 'और' ऐश्वर्य है। (मम-मतिः-ध्रुवा-नीतिः) 'यह' मेरा-विचार-निश्चल-नीति है ॥५९॥

यह श्रीमद्भगवद्गीता का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।
यह ग्रन्थ समाप्त हुआ॥

❀ इति ❀